

B.A.L.L.B.-8th Sem. Paper-I Political Science (Public Administration)

खण्ड-अ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न न० 1— लोक प्रशासन की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

उत्तर— लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो सरकार के कार्यों को प्रभावी ढंग से संचालित करने और सार्वजनिक नीतियों को लागू करने से संबंधित है। यह सिर्फ नियमों और कानूनों को लागू करना ही नहीं है, बल्कि यह सार्वजनिक सेवाओं को नागरिकों तक पहुंचाने, संसाधनों का प्रबंधन करने और सामाजिक-आर्थिक विकास को बढ़ावा देने का भी विज्ञान और कला है।

आइए इसकी परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र का विस्तार से वर्णन करें:

1. लोक प्रशासन की परिभाषा:

विभिन्न विद्वानों ने लोक प्रशासन को अलग-अलग दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है, जो इसके बहुआयामी स्वरूप को दर्शाते हैं:

- **एल.डी. व्हाइट (L.D. White) के अनुसार:** "लोक प्रशासन उन सभी कार्यों को कहते हैं जिनका उद्देश्य उपयुक्त सत्ता के द्वारा घोषित की गई सार्वजनिक नीति को लागू करना या पूरा करना होता है। " यह परिभाषा लोक प्रशासन को सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन पर केंद्रित करती है।
- **वुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) के अनुसार:** जिन्हें लोक प्रशासन का जनक माना जाता है, ने इसे "कानून का विस्तृत और व्यवस्थित अनुप्रयोग" कहा है। यह कानूनी परिप्रेक्ष्य पर जोर देता है।
- **जे.एम. पिफनर (J.M. Pfiffner) के अनुसार:** "लोक प्रशासन लोगों के प्रयासों में समन्वय स्थापित करके कार्य को सम्पन्न करना है ताकि वे मिलकर कार्य कर सकें अथवा अपने निश्चित कार्यों को पूरा कर सकें। " यह प्रबंधनकीय दृष्टिकोण को दर्शाता है।
- **आधुनिक दृष्टिकोण:** व्यापक अर्थों में, लोक प्रशासन सरकार द्वारा लोगों की देखभाल करने वाली सभी गतिविधियों को संदर्भित करता है। इसमें सार्वजनिक कार्यक्रमों और नीतियों के प्रबंधन की कला और विज्ञान शामिल है, जो समाज के लाभ के लिए उनके प्रभावी निष्पादन को सुनिश्चित करता है। यह नीतियों को धरातल पर उतारने और नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले सभी सरकारी कार्यों को समाहित करता है।

संक्षेप में, लोक प्रशासन सरकारी गतिविधियों का वह भाग है जो सार्वजनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नीतियों के निर्माण, क्रियान्वयन और मूल्यांकन से संबंधित है।

2. लोक प्रशासन की प्रकृति:

लोक प्रशासन की प्रकृति को समझने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार करना आवश्यक है:

- **कला और विज्ञान:** लोक प्रशासन को अक्सर कला और विज्ञान दोनों माना जाता है।
 - **विज्ञान के रूप में:** इसमें सिद्धांतों, तकनीकों और विधियों का व्यवस्थित अध्ययन शामिल है, जिसका उद्देश्य प्रशासन को अधिक कुशल और प्रभावी बनाना है। इसमें आंकड़ों का विश्लेषण, संगठनात्मक संरचनाओं का अध्ययन और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक मूल्यांकन शामिल है।
 - **कला के रूप में:** इसमें नेतृत्व, प्रेरणा, संचार और समस्या-समाधान जैसे मानवीय पहलू शामिल हैं, जिनके लिए रचनात्मकता, अंतर्ज्ञान और व्यावहारिक कौशल की आवश्यकता होती है। कुशल प्रशासक को परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेने और विभिन्न हितधारकों के साथ प्रभावी ढंग से बातचीत करने की कला आनी चाहिए।
- **एकीकृत दृष्टिकोण (Integral View):** इस दृष्टिकोण के अनुसार, लोक प्रशासन में सरकार के सभी कर्मचारी, शीर्ष स्तर से लेकर निम्न स्तर तक, और उनके द्वारा किए जाने वाले सभी कार्य शामिल होते हैं। इसमें नीतियों का निर्माण, उनका क्रियान्वयन, पर्यवेक्षण और यहां तक कि सार्वजनिक संपर्क भी शामिल है। यह प्रशासन को एक समग्र प्रक्रिया के रूप में देखता है।
- **प्रबंधनकीय दृष्टिकोण (Managerial View):** यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन को मुख्य रूप से प्रबंधन के कार्यों, जैसे योजना (Planning), आयोजन (Organizing), स्टाफिंग (Staffing), निर्देशन (Directing), समन्वय (Coordinating), रिपोर्टिंग (Reporting) और बजटिंग (Budgeting) (POSDCORB) से संबंधित मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, लोक प्रशासक वे लोग होते हैं जो प्रबंधकीय कार्यों में लगे होते हैं।
- **राजनीति-प्रशासन द्वैतवाद बनाम एकता:**
 - **द्वैतवाद (Politics-Administration Dichotomy):** प्रारंभिक चरण में, वुड्रो विल्सन और फ्रैंक गुडनो जैसे विद्वानों ने राजनीति और प्रशासन के बीच एक स्पष्ट विभाजन पर जोर दिया। उनका मानना था कि राजनीति नीतियों का निर्माण करती है, जबकि प्रशासन उन्हें निष्पक्ष और कुशलता से लागू करता है।

- **एकता (Politics-Administration Continuum):** आधुनिक दृष्टिकोण इस द्वैतवाद को अस्वीकार करता है। यह मानता है कि राजनीति और प्रशासन अविभाज्य हैं। प्रशासक न केवल नीतियों को लागू करते हैं, बल्कि वे नीति निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि वे अपनी विशेषज्ञता और अनुभव के आधार पर इनपुट प्रदान करते हैं। इसके अलावा, नीतियों के क्रियान्वयन के दौरान प्रशासकों को अक्सर विवेकाधीन निर्णय लेने पड़ते हैं, जो स्वयं एक राजनीतिक कार्य है।
- **सार्वजनिक हित पर ध्यान:** निजी प्रशासन के विपरीत, लोक प्रशासन का प्राथमिक उद्देश्य सार्वजनिक हित की सेवा करना है। इसका लक्ष्य लाभ कमाना नहीं, बल्कि नागरिकों को सेवाएं प्रदान करना, सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना और सामूहिक कल्याण को बढ़ावा देना है।

3. लोक प्रशासन का क्षेत्र:

लोक प्रशासन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक और गतिशील है, क्योंकि यह राज्य के बढ़ते कार्यों और नागरिकों की बढ़ती अपेक्षाओं के साथ विकसित होता रहता है। इसे विभिन्न दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है:

- **POSDCORB दृष्टिकोण (तकनीक-उन्मुख):**

- लूथर गुलिक और लिंडाल उर्विक द्वारा प्रतिपादित यह दृष्टिकोण प्रशासन के सात प्रमुख कार्यों पर केंद्रित है:

- **Planning (योजना):** लक्ष्यों का निर्धारण और उन्हें प्राप्त करने के लिए रणनीतियों का विकास।
- **Organizing (आयोजन):** संगठनात्मक संरचना का निर्माण और कार्यों का आवंटन।
- **Staffing (स्टाफिंग):** कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण और विकास।
- **Directing (निर्देशन):** कर्मचारियों को प्रेरित करना और उनके कार्यों का पर्यवेक्षण करना।
- **COordinating (समन्वय):** विभिन्न इकाइयों और व्यक्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करना।
- **Reporting (रिपोर्टिंग):** अधिकारियों और जनता को जानकारी प्रदान करना।
- **Budgeting (बजटिंग):** वित्तीय योजना बनाना और नियंत्रण करना।

- यह दृष्टिकोण प्रशासन के तकनीकी और प्रबंधकीय पहलुओं पर जोर देता है। हालांकि, इसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह "क्या" किया जाना है (विषय-वस्तु) की बजाय "कैसे" किया जाना है (तकनीक) पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है।

- **विषय-वस्तु दृष्टिकोण (Subject Matter View):**

- यह दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि लोक प्रशासन केवल सामान्य प्रबंधकीय तकनीकों से संबंधित नहीं है, बल्कि इसमें सरकार के विशिष्ट विभाग और उनके विशेष कार्य भी शामिल हैं। उदाहरण के लिए, रक्षा प्रशासन, स्वास्थ्य प्रशासन, शिक्षा प्रशासन, कृषि प्रशासन, कानून और व्यवस्था आदि।

- इस दृष्टिकोण के अनुसार, एक कुशल प्रशासक को न केवल प्रबंधकीय कौशल होने चाहिए, बल्कि उसे उस विशेष क्षेत्र की विषय-वस्तु का भी ज्ञान होना चाहिए जिसमें वह काम कर रहा है।

- **व्यापक दृष्टिकोण (Broad View):**

- यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन को सरकार की तीनों शाखाओं – विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका – की गतिविधियों से संबंधित मानता है। यह केवल कार्यपालिका तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें कानूनों का निर्माण और न्यायिक निर्णयों का क्रियान्वयन भी शामिल है।

- यह दृष्टिकोण सरकार के समस्त कार्यों को शामिल करता है जो सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए जाते हैं।

- **लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण:**

- आधुनिक कल्याणकारी राज्य में लोक प्रशासन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है। सरकार अब केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित नहीं है, बल्कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, रोजगार सृजन, गरीबी उन्मूलन और पर्यावरणीय संरक्षण जैसे विभिन्न क्षेत्रों में नागरिकों के कल्याण के लिए काम करती है।

- इसलिए, लोक प्रशासन का क्षेत्र इन सभी लोक कल्याणकारी गतिविधियों को शामिल करता है।

- **आधुनिक दृष्टिकोण (Modern View):**

- आधुनिक लोक प्रशासन एक अंतःविषयक (interdisciplinary) क्षेत्र बन गया है, जो राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, कानून और प्रबंधन जैसे विभिन्न विषयों से ज्ञान और तकनीकों को आकर्षित करता है।

- इसमें सुशासन (Good Governance), ई-गवर्नेंस (E-Governance), सार्वजनिक-निजी भागीदारी (Public-Private Partnerships), नागरिक-केंद्रित प्रशासन (Citizen-Centric Administration) और जवाबदेही (Accountability) जैसे नए आयाम भी शामिल हैं।

- इसका क्षेत्र सार्वजनिक नीति विश्लेषण (Public Policy Analysis), सार्वजनिक वित्तीय प्रबंधन (Public Financial Management), मानव संसाधन प्रबंधन (Human Resource Management), संगठनात्मक व्यवहार (Organizational Behavior) और विकास प्रशासन (Development Administration) जैसे विशिष्ट उप-क्षेत्रों को भी समाहित करता है।

प्रश्न न0 2— आधुनिक राज्यों में लोक प्रशासन की महत्ता का वर्णन कीजिए।

उत्तर— आधुनिक राज्यों में लोक प्रशासन की महत्ता को अतिरंजित नहीं किया जा सकता। यह सिर्फ सरकारी मशीनरी का एक हिस्सा नहीं, बल्कि राज्य के अस्तित्व और कार्यप्रणाली का आधार स्तंभ है। आज के युग में , जहां राज्य की भूमिका कानून और व्यवस्था बनाए रखने से कहीं अधिक विस्तारित हो गई है , लोक प्रशासन का महत्व कई गुना बढ़ गया है। एल.डी. व्हाइट के शब्दों में , "लोक प्रशासन सभ्य समाज का आवश्यक अंग तथा आधुनिक जीवन का एक प्रमुख तत्व है और इसमें राज्य के उस स्वरूप ने जन्म लिया है जिसे प्रशासकीय राज्य कहा जाता है।"¹

आधुनिक राज्यों में लोक प्रशासन की महत्ता को निम्नलिखित बिंदुओं से समझा जा सकता है:

1. कल्याणकारी राज्य का आधार:

आधुनिक राज्य की सबसे प्रमुख विशेषता उसका कल्याणकारी स्वरूप है। सरकारें अब केवल सुरक्षा और न्याय प्रदान करने तक सीमित नहीं हैं , बल्कि नागरिकों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए शिक्षा , स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, आवास, रोजगार, पर्यावरण संरक्षण आदि क्षेत्रों में व्यापक सेवाएं प्रदान करती हैं। इन सभी कल्याणकारी योजनाओं और कार्यक्रमों को नागरिकों तक पहुँचाने का कार्य लोक प्रशासन ही करता है। लोक प्रशासन के बिना , कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अधूरी है।

2. सार्वजनिक नीतियों का क्रियान्वयन:

सरकारें नीतियां बनाती हैं, लेकिन उन नीतियों को धरातल पर उतारने का काम लोक प्रशासन का है। चाहे वह कृषि नीति हो, औद्योगिक नीति हो, स्वास्थ्य नीति हो या शिक्षा नीति , इन सभी नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू करने , उनका प्रबंधन करने और उनके वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए एक मजबूत और कुशल प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता होती है। लोक प्रशासन नीतियों को अमूर्त विचारों से वास्तविक परिणामों में बदलता है।

3. कानून और व्यवस्था का रखरखाव:

राज्य का प्राथमिक कार्य अपने नागरिकों के जीवन और संपत्ति की सुरक्षा सुनिश्चित करना है। यह कार्य लोक प्रशासन द्वारा ही किया जाता है, जिसमें पुलिस, न्यायपालिका के प्रशासनिक विंग, जेल और अन्य सुरक्षा एजेंसियां शामिल हैं। शांति और व्यवस्था के बिना कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता, और इसे बनाए रखने में लोक प्रशासन की भूमिका केंद्रीय है।

4. आर्थिक विकास और नियोजन:

आधुनिक राज्य आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। इसमें आर्थिक नीतियों का निर्माण , संसाधनों का आवंटन, बुनियादी ढांचे का विकास (सड़कें, पुल, ऊर्जा), उद्योगों का विनियमन और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रबंधन शामिल है। इन सभी कार्यों के लिए एक सुव्यवस्थित और विशेषज्ञ लोक प्रशासनिक प्रणाली अपरिहार्य है जो आर्थिक योजनाओं को तैयार करती है और उन्हें क्रियान्वित करती है।

5. सामाजिक परिवर्तन और विकास का उपकरण:

लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तनों का एक शक्तिशाली उपकरण है। यह समाज में व्याप्त असमानताओं , गरीबी और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए कार्यक्रम बनाता है और उन्हें लागू करता है। यह शिक्षा के माध्यम से जागरूकता फैलाता है , वंचित वर्गों को सशक्त बनाता है , और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विकासशील देशों में तो लोक प्रशासन विकास प्रशासन का पर्याय बन गया है।

6. स्थिरता और निरंतरता प्रदान करना:

लोक प्रशासन समाज में स्थिरता स्थापित करने वाली एक महत्वपूर्ण शक्ति है। सरकारें बदल सकती हैं , राजनीतिक दल सत्ता में आ सकते हैं और जा सकते हैं , लेकिन प्रशासनिक मशीनरी बनी रहती है। यह निरंतरता सुनिश्चित करती है कि सार्वजनिक सेवाएं निर्बाध रूप से जारी रहें और सरकार के कार्य सुचारू रूप से चलते रहें। यह नए और पुराने कार्यक्रमों के बीच एक कड़ी का काम करता है।

7. विशेषज्ञता और दक्षता:

आधुनिक प्रशासन अत्यधिक जटिल हो गया है , जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है। लोक प्रशासन विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों (जैसे इंजीनियर , डॉक्टर, वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, शिक्षाविद) को एक मंच पर लाता है और उनकी विशेषज्ञता का उपयोग सार्वजनिक हित में करता है। यह दक्षता और प्रभावशीलता सुनिश्चित करने के लिए वैज्ञानिक प्रबंधन तकनीकों और आधुनिक प्रौद्योगिकियों (जैसे ई-गवर्नेंस) का उपयोग करता है।

8. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रबंधन:

वैश्वीकरण के इस युग में , आधुनिक राज्य के अंतर्राष्ट्रीय संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण हो गए हैं। विदेश नीति का निर्माण , अंतर्राष्ट्रीय संधियों का क्रियान्वयन, दूतावासों का प्रबंधन, और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर देश का प्रतिनिधित्व करने में लोक प्रशासन की भूमिका महत्वपूर्ण है।

9. जनसंपर्क और शिकायत निवारण:

आधुनिक लोक प्रशासन नागरिक-केंद्रित होता जा रहा है। यह नागरिकों और सरकार के बीच एक सेतु का काम करता है। यह जनसंपर्क के माध्यम से सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों के बारे में जानकारी प्रदान करता है , और नागरिकों की शिकायतों और समस्याओं को हल करने के लिए शिकायत निवारण तंत्र स्थापित करता है। यह प्रशासन को जनता के प्रति अधिक संवेदनशील और जवाबदेह बनाता है।

10. संकट प्रबंधन और आपदा राहत:

प्राकृतिक आपदाओं, महामारियों, या अन्य संकटों के समय , लोक प्रशासन त्वरित प्रतिक्रिया और राहत कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह राहत सामग्री का वितरण , बचाव अभियान, पुनर्वास और सार्वजनिक स्वास्थ्य उपायों का समन्वय करता है।

प्रश्न न0 3— लाइन और स्टाफ एजेंसी के बारे में बताइये।

उत्तर— लोक प्रशासन में 'लाइन' और 'स्टाफ' की अवधारणाएँ संगठनात्मक संरचना और कार्यप्रणाली को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये अवधारणाएँ मूल रूप से सैन्य प्रशासन से ली गई हैं , जहाँ युद्ध लड़ने वाले सैनिकों को 'लाइन' और उन्हें सहायता व परामर्श देने वाले मुख्यालय के कर्मचारियों को 'स्टाफ' कहा जाता था। सिविल प्रशासन में भी इन अवधारणाओं को अपनाया गया है ताकि कार्यों को प्रभावी ढंग से वितरित और समन्वित किया जा सके।

1. लाइन एजेंसी (Line Agency):

लाइन एजेंसियों को "मुख्य" या "परिचालन" एजेंसियां भी कहा जाता है। ये वे एजेंसियां होती हैं जो सरकार के प्राथमिक उद्देश्यों को सीधे पूरा करने या सार्वजनिक नीतियों को सीधे क्रियान्वित करने के लिए जिम्मेदार होती हैं। ये सीधे जनता के संपर्क में होती हैं और सेवाओं को सीधे नागरिकों तक पहुंचाती हैं।

लाइन एजेंसियों की विशेषताएं:

- **प्रत्यक्ष उद्देश्य पूर्ति:** इनका मुख्य कार्य सरकार के उद्देश्यों को सीधे प्राप्त करना है। उदाहरण के लिए , शिक्षा विभाग का मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है, स्वास्थ्य विभाग का स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करना है, और पुलिस विभाग का कानून और व्यवस्था बनाए रखना है।
- **आदेश और नियंत्रण:** लाइन एजेंसियों के पास आदेश देने और नियंत्रण करने का अधिकार होता है। एक लाइन अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सीधे निर्देश दे सकता है और उनके कार्यों का पर्यवेक्षण कर सकता है।
- **जनता से सीधा संपर्क:** ये एजेंसियां सीधे जनता के साथ इंटरैक्ट करती हैं और उनकी समस्याओं का समाधान करती हैं।
- **जवाबदेही:** लाइन अधिकारी सीधे उन नीतियों के क्रियान्वयन और परिणामों के लिए जवाबदेह होते हैं जिनके लिए वे जिम्मेदार हैं।
- **उदाहरण:** सरकार के विभिन्न विभाग जैसे शिक्षा मंत्रालय/विभाग , स्वास्थ्य मंत्रालय/विभाग , गृह मंत्रालय/विभाग , पीडब्ल्यूडी (सार्वजनिक कार्य विभाग), कृषि विभाग, रेलवे मंत्रालय आदि लाइन एजेंसियां हैं।

लाइन एजेंसियों के कार्य:

- **नीतियों का क्रियान्वयन:** सरकार द्वारा बनाई गई नीतियों और कार्यक्रमों को जमीनी स्तर पर लागू करना।
- **सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करना:** नागरिकों को प्रत्यक्ष सेवाएं (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, सुरक्षा) प्रदान करना।
- **कानून और व्यवस्था बनाए रखना:** कानूनों को लागू करना और शांति व्यवस्था बनाए रखना।
- **निर्णय लेना:** अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर परिचालन संबंधी निर्णय लेना।
- **संसाधनों का प्रबंधन:** मानव, वित्तीय और भौतिक संसाधनों का उपयोग करके निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना।

2. स्टाफ एजेंसी (Staff Agency):

स्टाफ एजेंसियां वे एजेंसियां होती हैं जो लाइन एजेंसियों को उनके कार्यों को अधिक प्रभावी ढंग से करने में सहायता , सलाह और विशेषज्ञता प्रदान करती हैं। इनका कार्य सीधे नीतियों का क्रियान्वयन करना नहीं होता , बल्कि ये लाइन एजेंसियों को उनके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक इनपुट और समर्थन देती हैं। इन्हें "सहायक" या "परामर्शदात्री" एजेंसियां भी कहा जाता है।

स्टाफ एजेंसियों की विशेषताएं:

- **सलाहकारी प्रकृति:** स्टाफ एजेंसियों के पास सीधे आदेश देने का अधिकार नहीं होता (कुछ मामलों को छोड़कर , जहाँ उन्हें विशेष अधिकार दिए गए हों)। उनका मुख्य कार्य सलाह देना, सुझाव देना और सूचना प्रदान करना होता है।
- **विशेषज्ञता:** ये एजेंसियां किसी विशेष क्षेत्र में विशेषज्ञता रखती हैं (जैसे कानूनी, वित्तीय, अनुसंधान, कार्मिक प्रबंधन)।
- **अप्रत्यक्ष कार्य:** ये जनता के साथ सीधे संपर्क में नहीं होती हैं , बल्कि लाइन एजेंसियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करती हैं।
- **समर्थन और सहायता:** इनका उद्देश्य लाइन एजेंसियों को उनके परिचालन कार्यों में सहायता प्रदान करना है ताकि वे अधिक कुशल और प्रभावी बन सकें।
- **उदाहरण:** वित्त मंत्रालय (जो अन्य मंत्रालयों को वित्तीय सलाह देता है) , कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग (जो भर्ती और प्रशिक्षण संबंधी सलाह देता है) , योजना आयोग/नीति आयोग (जो योजनाओं के निर्माण में सलाह देता है) , कैबिनेट सचिवालय (जो विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय स्थापित करता है) आदि स्टाफ एजेंसियां हैं।

स्टाफ एजेंसियों के कार्य:

- **परामर्श और सलाह देना:** लाइन एजेंसियों और मुख्य कार्यपालिका को नीति निर्माण और क्रियान्वयन संबंधी विशेषज्ञ सलाह प्रदान करना।
- **अनुसंधान और विश्लेषण:** विभिन्न मुद्दों पर शोध करना , डेटा एकत्र करना और उसका विश्लेषण करना ताकि बेहतर निर्णय लिए जा सकें।
- **योजना बनाना:** दीर्घकालिक और अल्पकालिक योजनाओं के निर्माण में सहायता करना।
- **समन्वय:** विभिन्न लाइन एजेंसियों के बीच समन्वय स्थापित करने में मदद करना ताकि कार्य सुचारू रूप से चल सकें।
- **सूचना प्रदान करना:** आवश्यक जानकारी और डेटा एकत्र करके लाइन अधिकारियों को उपलब्ध कराना।
- **परीक्षण और मूल्यांकन:** कार्यक्रमों और नीतियों के प्रभाव का मूल्यांकन करना और सुधार के सुझाव देना।
- **कार्मिक प्रबंधन:** भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन निर्धारण और कर्मचारियों के कल्याण संबंधी सलाह देना।
- **वित्तीय प्रबंधन:** बजट तैयार करने, वित्तीय नीतियों का निर्धारण करने और वित्तीय नियंत्रण में सहायता करना।

लाइन और स्टाफ एजेंसियों के बीच संबंध और महत्व:

लोक प्रशासन में लाइन और स्टाफ एजेंसियों के बीच प्रभावी समन्वय और सहयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और किसी भी संगठन की सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

- **महत्व:**
 - **दक्षता में वृद्धि:** स्टाफ एजेंसियां लाइन एजेंसियों को विशेषज्ञ सलाह और सहायता प्रदान करके उनकी दक्षता और प्रभावशीलता बढ़ाती हैं।
 - **बेहतर निर्णय:** स्टाफ द्वारा प्रदान की गई जानकारी और विश्लेषण के आधार पर लाइन अधिकारी अधिक सूचित और बेहतर निर्णय ले पाते हैं।
 - **विशेषज्ञता का लाभ:** जटिल और विशिष्ट कार्यों के लिए विशेषज्ञता प्रदान करके संगठन को लाभ होता है।
 - **समन्वय और एकीकरण:** स्टाफ एजेंसियां विभिन्न लाइन इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करने में मदद करती हैं, जिससे संगठन के समग्र उद्देश्यों को प्राप्त करना आसान होता है।
 - **कार्यभार कम करना:** स्टाफ एजेंसियां लाइन अधिकारियों के बोझ को कम करती हैं ताकि वे अपने मुख्य परिचालन कार्यों पर ध्यान केंद्रित कर सकें।
- **संभावित समस्याएं:**
 - **अधिकार का भ्रम:** यदि लाइन और स्टाफ की भूमिकाएं स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं, तो अधिकार और जवाबदेही को लेकर भ्रम हो सकता है।
 - **संघर्ष:** स्टाफ एजेंसियां अक्सर महसूस कर सकती हैं कि उनकी सलाह को अनदेखा किया जा रहा है, जबकि लाइन अधिकारी स्टाफ को अव्यावहारिक या जमीनी हकीकत से दूर मान सकते हैं।
 - **महत्व का टकराव:** दोनों के बीच अपने-अपने महत्व को लेकर टकराव हो सकता है।
 - **अतिरिक्त स्टाफिंग:** अनावश्यक स्टाफ एजेंसियों के कारण नौकरशाही का विस्तार और लागत में वृद्धि हो सकती है।

इन समस्याओं से बचने के लिए , लाइन और स्टाफ एजेंसियों के बीच भूमिकाओं और जिम्मेदारियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना, प्रभावी संचार चैनल स्थापित करना और एक-दूसरे के प्रति सम्मान और समझ विकसित करना आवश्यक

है। मुख्य कार्यपालिका को दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने और यह सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है कि संगठन के समग्र लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वे मिलकर काम करें।

प्रश्न न0 4— टिप्पणी लिखिए।

उत्तर— (क) प्रोन्नति (Promotion) लोक प्रशासन में एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसमें किसी कर्मचारी को उसके वर्तमान पद से एक उच्च पद पर नियुक्त किया जाता है। इस नई स्थिति में आमतौर पर बड़ी हुई जिम्मेदारियाँ, अधिक अधिकार, उच्च वेतन और बेहतर सामाजिक प्रतिष्ठामिल होती है।

मुख्य उद्देश्य:

- **कर्मचारी प्रेरणा:** यह कर्मचारियों को बेहतर प्रदर्शन करने और अपनी क्षमताओं को विकसित करने के लिए प्रेरित करता है।
- **दक्षता वृद्धि:** संगठन में सबसे योग्य व्यक्तियों को उच्च पदों पर लाकर समग्र दक्षता बढ़ाता है।
- **करियर विकास:** कर्मचारियों को उनके करियर पथ पर आगे बढ़ने और अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग करने का अवसर देता है।
- **प्रतिभा प्रतिधारण:** अच्छे कर्मचारियों को संगठन में बनाए रखने में मदद करता है।

प्रोन्नति के आधार:

मुख्यतः दो सिद्धांतों पर आधारित होती है:

1. **वरिष्ठता (Seniority):** सेवाकाल की अवधि पर आधारित। इसका लाभ निष्पक्षता और विवादों में कमी है, लेकिन यह योग्यता की अनदेखी कर सकता है।
2. **योग्यता (Merit):** कर्मचारी के प्रदर्शन, कौशल और ज्ञान पर आधारित। यह दक्षता को बढ़ावा देता है, लेकिन मूल्यांकन में व्यक्तिपरकता और पक्षपात का जोखिम हो सकता है।

आधुनिक लोक प्रशासन में अक्सर 'वरिष्ठता-सह-योग्यता' (Seniority-cum-Merit) का सिद्धांत अपनाया जाता है, जो दोनों का संतुलन साधने का प्रयास करता है।

महत्व:

प्रोन्नति केवल एक व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है, बल्कि यह संगठन के मनोबल, उत्पादकता और सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता को सीधे प्रभावित करती है। एक निष्पक्ष और पारदर्शी प्रोन्नति प्रणाली किसी भी कुशल प्रशासनिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।

(ख) योजना (Planning) लोक प्रशासन में एक मूलभूत और अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसका अर्थ है किसी संगठन या सरकार के भविष्य के लक्ष्यों को निर्धारित करना और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित तरीके से कार्ययोजना (कार्यप्रणाली) तैयार करना। यह एक तर्कसंगत और व्यवस्थित दृष्टिकोण है जो निर्णय लेने की प्रक्रिया को दिशा देता है।

मुख्य तत्व:

- **लक्ष्य निर्धारण:** स्पष्ट और प्राप्त करने योग्य उद्देश्यों को परिभाषित करना।
- **नीति निर्माण:** लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए व्यापक दिशानिर्देश और सिद्धांत विकसित करना।
- **कार्यक्रम और परियोजनाएँ:** लक्ष्यों को पूरा करने के लिए विशिष्ट कार्य और पहल तैयार करना।
- **संसाधन आवंटन:** आवश्यक मानव, वित्तीय और भौतिक संसाधनों का प्रभावी ढंग से वितरण करना।
- **कार्यान्वयन रणनीति:** यह तय करना कि योजना को कैसे निष्पादित किया जाएगा।
- **मूल्यांकन और नियंत्रण:** प्रगति की निगरानी करना और आवश्यकतानुसार समायोजन करना।

लोक प्रशासन में महत्व:

- **दक्षता और प्रभावशीलता:** संसाधनों के अपव्यय को कम करती है और परिणामों को बेहतर बनाती है।
- **दिशा और समन्वय:** संगठनात्मक गतिविधियों को एक साझा उद्देश्य की ओर निर्देशित करती है और विभिन्न इकाइयों के बीच समन्वय स्थापित करती है।
- **अनिश्चितता का सामना:** भविष्य की चुनौतियों और अवसरों के लिए तैयार रहने में मदद करती है।
- **जवाबदेही:** निर्धारित लक्ष्यों के विरुद्ध प्रदर्शन का मूल्यांकन करने का आधार प्रदान करती है।
- **विकास और परिवर्तन:** सामाजिक-आर्थिक विकास और कल्याणकारी नीतियों के सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है।

संक्षेप में, योजना आधुनिक लोक प्रशासन का हृदय है, जो सरकारों को केवल प्रतिक्रियाशील होने के बजाय सक्रिय और दूरदर्शी बनने में सक्षम बनाती है, ताकि वे सार्वजनिक आवश्यकताओं को प्रभावी ढंग से पूरा कर सकें।

(ग) लोक प्रशासन में **बजट (Budget)** एक **वार्षिक वित्तीय विवरण** होता है जो किसी सरकार या सार्वजनिक संगठन की **अनुमानित प्राप्ति (राजस्व)** और **प्रस्तावित व्ययों** का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। यह एक निश्चित वित्तीय अवधि (आमतौर पर एक वर्ष) के लिए बनाया जाता है।

लोक प्रशासन में बजट का महत्व:

- **नीति का दस्तावेज:** यह सरकार की प्राथमिकताओं, योजनाओं और कार्यक्रमों को दर्शाता है। बजट केवल वित्तीय दस्तावेज नहीं, बल्कि सरकार की नीतियों का एक मूर्त रूप है।
- **संसाधन आवंटन:** यह दुर्लभ संसाधनों को विभिन्न विभागों और कार्यक्रमों के बीच कुशलतापूर्वक वितरित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है।
- **वित्तीय नियंत्रण:** यह सरकार के व्यय पर विधायी (संसदीय) और कार्यकारी नियंत्रण स्थापित करने में मदद करता है, जिससे धन के दुरुपयोग को रोका जा सके।
- **जवाबदेही और पारदर्शिता:** बजट सरकार को जनता के प्रति जवाबदेह बनाता है। यह नागरिकों को यह जानने का अवसर देता है कि उनके करों का उपयोग कैसे किया जा रहा है।
- **आर्थिक प्रबंधन:** यह आर्थिक स्थिरता बनाए रखने, विकास को बढ़ावा देने और आय व धन के वितरण को प्रभावित करने का एक प्रमुख उपकरण है।
- **नियोजन का उपकरण:** यह भविष्य की गतिविधियों की योजना बनाने और उन्हें वित्तीय सीमाओं के भीतर रखने में सहायता करता है।

संक्षेप में, बजट लोक प्रशासन का **वित्तीय हृदय** है, जो सरकार को अपने कार्यों को प्रभावी ढंग से संचालित करने, सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करने और अपने नागरिकों के कल्याण के लिए काम करने में सक्षम बनाता है।

प्रश्न न० 5— लोक प्रशासन के ऊपर कार्यपालिका विधायी और न्यायिक नियंत्रण का वर्णन करें।

उत्तर— लोक प्रशासन, जो कि सरकार की नीतियों को क्रियान्वित करने और सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करने के लिए जिम्मेदार है, पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा नियंत्रण रखा जाता है ताकि यह जवाबदेह, कुशल और निष्पक्ष बना रहे। लोकतांत्रिक व्यवस्था में, सरकार के तीनों अंग – कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका – लोक प्रशासन पर अलग-अलग तरीकों से नियंत्रण रखते हैं। यह नियंत्रण सत्ता के पृथक्करण के सिद्धांत को मजबूत करता है और मनमानी को रोकता है। आइए, इन तीनों प्रकार के नियंत्रणों का विस्तार से वर्णन करें:

1. लोक प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण (Executive Control over Public Administration):

कार्यपालिका, जिसमें राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री, मंत्रिगण और वरिष्ठ नौकरशाह शामिल होते हैं, सीधे लोक प्रशासन के शीर्ष पर होती है। इसलिए, लोक प्रशासन पर इसका नियंत्रण सबसे प्रत्यक्ष और व्यापक होता है। कार्यपालिका नियंत्रण का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि प्रशासन सरकार की नीतियों और लक्ष्यों के अनुरूप कार्य करे।

कार्यपालिका नियंत्रण के तरीके:

- **नीति निर्धारण और निर्देश:** कार्यपालिका सरकार की नीतियों का निर्धारण करती है और प्रशासकों को उन नीतियों को लागू करने के लिए स्पष्ट निर्देश देती है। प्रशासकों को इन निर्देशों का पालन करना होता है।
- **नियुक्ति, स्थानांतरण और निष्कासन:** कार्यपालिका के पास उच्च प्रशासनिक पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति, उनका स्थानांतरण और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें पद से हटाने का अधिकार होता है। यह प्रशासकों पर महत्वपूर्ण नियंत्रण रखता है।
- **बजट और वित्तीय नियंत्रण:** कार्यपालिका ही बजट तैयार करती है और उसे संसद में प्रस्तुत करती है। प्रशासकों को स्वीकृत बजट के भीतर ही कार्य करना होता है। वित्त मंत्रालय और संबंधित विभागों द्वारा वित्तीय नियमों और प्रक्रियाओं का कड़ाई से पालन सुनिश्चित किया जाता है, जिसमें ऑडिट भी शामिल है।
- **नियम और विनियम बनाना (प्रत्यायोजित विधान):** विधायिका द्वारा पारित कानूनों के तहत, कार्यपालिका को नियमों और विनियमों (सब्सिडियरी लेजिस्लेशन) को बनाने का अधिकार दिया जाता है। ये नियम प्रशासकों के कार्यों को विनियमित करते हैं।
- **अधीक्षण और पर्यवेक्षण:** मंत्रियों और वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा अपने अधीनस्थ विभागों और अधिकारियों के कार्यों का लगातार अधीक्षण, पर्यवेक्षण और मूल्यांकन किया जाता है। वे रिपोर्ट मांग सकते हैं, प्रदर्शन की समीक्षा कर सकते हैं और सुधार के निर्देश दे सकते हैं।
- **प्रशासनिक सुधार:** कार्यपालिका समय-समय पर प्रशासनिक सुधार आयोगों का गठन करती है और प्रशासन की दक्षता, प्रभावशीलता और जवाबदेही में सुधार के लिए कदम उठाती है।

- **आचार संहिता और अनुशासनात्मक कार्यवाही:** लोक सेवकों के लिए आचार संहिता निर्धारित की जाती है और उनके कदाचार या नियमों के उल्लंघन के मामले में अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है।
- **लोकमत से अपील:** कार्यपालिका सार्वजनिक राय का उपयोग करके प्रशासन पर नैतिक दबाव डाल सकती है, खासकर जब नीतियों के क्रियान्वयन में कोई कमी हो।

सीमाएं: कार्यपालिका का नियंत्रण प्रभावी होने के बावजूद, यह नौकरशाही की जड़ता, विशेषज्ञता के अभाव और राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण सीमित हो सकता है।

2. लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण (Legislative Control over Public Administration):

विधायिका (भारत में संसद/राज्य विधानमंडल) जनता की प्रतिनिधि संस्था है। यह लोक प्रशासन पर नियंत्रण रखती है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि प्रशासन जनता की इच्छा के अनुरूप कार्य करे और सार्वजनिक धन का उचित उपयोग हो।

विधायी नियंत्रण के तरीके:

- **कानूनी नियंत्रण (विधायन):** विधायिका कानूनों का निर्माण करती है, और प्रशासन को इन्हीं कानूनों के दायरे में रहकर कार्य करना होता है। कोई भी प्रशासनिक कार्यवाही कानून के विरुद्ध नहीं हो सकती।
- **वित्तीय नियंत्रण:** यह सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रणों में से एक है।
 - **बजट पर मतदान:** विधायिका बजट प्रस्तावों पर मतदान करती है और सरकार को धन खर्च करने की अनुमति देती है। कोई भी धन विधायिका की अनुमति के बिना खर्च नहीं किया जा सकता।
 - **अनुदान मांगों पर चर्चा:** विभिन्न मंत्रालयों की अनुदान मांगों पर चर्चा के दौरान, सांसद संबंधित विभागों के प्रदर्शन और नीतियों की आलोचना कर सकते हैं।
 - **लेखा-परीक्षा (Audit):** नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (CAG) की रिपोर्ट के माध्यम से विधायिका यह सुनिश्चित करती है कि सरकारी धन का उपयोग नियमों के अनुसार और कुशलता से किया गया है। CAG अपनी रिपोर्ट संसद को प्रस्तुत करता है, जिसकी जांच लोक लेखा समिति (PAC) जैसी संसदीय समितियाँ करती हैं।
- **प्रश्नकाल और शून्यकाल:** संसद सत्र के दौरान, सदस्य मंत्रियों से उनके विभागों से संबंधित प्रश्न पूछ सकते हैं। प्रश्नकाल और शून्यकाल प्रशासन की जवाबदेही सुनिश्चित करने के महत्वपूर्ण साधन हैं।
- **प्रस्ताव और बहस:** संसद में विभिन्न प्रस्ताव (जैसे स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव) और चर्चाएं प्रशासन के कामकाज की जांच करने और उसे जवाबदेह ठहराने का अवसर प्रदान करती हैं।
- **संसदीय समितियाँ:** विभिन्न संसदीय समितियाँ (जैसे लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति, सार्वजनिक उपक्रम समिति) प्रशासन के कार्यों, नीतियों और खर्चों की विस्तृत जांच करती हैं और अपनी रिपोर्ट संसद को प्रस्तुत करती हैं। ये समितियाँ गहन छानबीन कर सकती हैं।
- **प्रत्यायोजित विधान पर नियंत्रण:** जब कार्यपालिका को कानून बनाने की शक्ति दी जाती है, तो विधायिका यह सुनिश्चित करती है कि कार्यपालिका द्वारा बनाए गए नियम और विनियम मूल कानून के अनुरूप हों।

सीमाएं: विधायिका का नियंत्रण भी कुछ सीमाओं से ग्रस्त है, जैसे समय की कमी, तकनीकी जटिलता, सदस्यों की विशेषज्ञता का अभाव, और संसदीय समितियों की सिफारिशों का बाध्यकारी न होना।

3. लोक प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण (Judicial Control over Public Administration):

न्यायपालिका लोक प्रशासन पर नियंत्रण रखती है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि प्रशासक कानून के शासन का पालन करें, नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन न करें, और अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर कार्य करें। न्यायिक नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य प्रशासन की मनमानी और शक्ति के दुरुपयोग को रोकना है।

न्यायिक नियंत्रण के तरीके:

- **न्यायिक समीक्षा (Judicial Review):** न्यायपालिका के पास किसी भी प्रशासनिक कार्य, नियम या विनियमन की संवैधानिकता और वैधता की समीक्षा करने की शक्ति होती है। यदि कोई प्रशासनिक कार्य संविधान या किसी कानून के प्रावधानों का उल्लंघन करता है, तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।
- **रिट जारी करना:** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के तहत, सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की रिट (जैसे बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, उत्प्रेषण, प्रतिषेध और अधिकार-पृच्छा) जारी कर सकते हैं।
 - **परमादेश (Mandamus):** किसी लोक अधिकारी को उसके कानूनी कर्तव्य का पालन करने का आदेश देना।
 - **अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto):** यह पूछना कि किस अधिकार से कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद पर है।

- **उत्प्रेषण (Certiorari) और प्रतिषेध (Prohibition):** निचली अदालतों या अर्ध-न्यायिक निकायों को उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर जाने से रोकना या उनके निर्णयों को रद्द करना।
- **क्षतिपूर्ति और दंड:** यदि किसी प्रशासनिक कार्य से किसी नागरिक को नुकसान होता है , तो न्यायालय सरकार या संबंधित अधिकारी को क्षतिपूर्ति का भुगतान करने का आदेश दे सकता है। कुछ मामलों में , लापरवाह या दुराचारी अधिकारियों को दंडित भी किया जा सकता है।
- **सिविल और आपराधिक मुकदमे:** नागरिक अनुबंधों के उल्लंघन या अन्य गलत कार्यों के लिए सरकार या उसके अधिकारियों के खिलाफ सिविल मुकदमे दायर कर सकते हैं। आपराधिक कृत्यों के लिए अधिकारियों पर आपराधिक मुकदमे भी चलाए जा सकते हैं।
- **न्याय-निर्णयन (Adjudication) की समीक्षा:** कई प्रशासनिक निकाय अर्ध-न्यायिक कार्य करते हैं (जैसे कर निर्धारण , लाइसेंसिंग)। न्यायपालिका इन प्रशासनिक निकायों के निर्णयों की अपील या समीक्षा कर सकती है ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि उन्होंने निष्पक्ष और कानून के अनुसार कार्य किया है।

सीमाएं: न्यायिक नियंत्रण भी कुछ सीमाओं के अधीन है। न्यायालय आमतौर पर नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते , बल्कि केवल यह देखते हैं कि प्रशासनिक कार्य कानूनी और संवैधानिक सीमाओं के भीतर हैं या नहीं। न्यायिक प्रक्रियाएं महंगी और समय लेने वाली हो सकती हैं।

प्रश्न न0 6— विकेन्द्रीकृत प्रशासन' से आप क्या समझते हैं?

उत्तर— 'केन्द्रीकृत प्रशासन' (Decentralized Administration) लोक प्रशासन की वह अवधारणा है जिसमें **सत्ता, अधिकार, जिम्मेदारियाँ और निर्णय लेने की शक्ति को केंद्रीय या उच्चतर सरकारी स्तरों से हटाकर निचलेस्थानीय या अधीनस्थ स्तरों पर हस्तांतरित किया जाता है।** यह केंद्रीकरण के विपरीत है, जहाँ सारी शक्तियाँ एक ही केंद्रीय निकाय या व्यक्ति के हाथों में केंद्रित होती हैं।

यह केवल कुछ कार्यों को सौंपना (प्रत्यायोजन) नहीं है , बल्कि **अधिकारों और संसाधनों का वास्तविक हस्तांतरण** है, ताकि स्थानीय निकाय या अधिकारी अपने क्षेत्र की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें।

विकेन्द्रीकृत प्रशासन के मुख्य प्रकार:

विकेन्द्रीकरण विभिन्न रूपों में हो सकता है , लेकिन लोक प्रशासन के संदर्भ में इसे मुख्य रूप से निम्नलिखित श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

1. प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण (Administrative Decentralization):

- इसमें सरकार के भीतर ही प्रशासनिक शक्तियों और कार्यों का निचले स्तर के अधिकारियों या एजेंसियों को हस्तांतरण होता है।
- यह निर्णय लेने की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है और स्थानीय स्तर पर सेवा वितरण में सुधार करता है।
- इसमें विभिन्न रूप शामिल हो सकते हैं:
 - **प्रतिनिधिमंडल (Delegation):** उच्च अधिकारी कुछ कार्यों और निर्णय लेने की शक्ति को अपने अधीनस्थों को सौंपते हैं, लेकिन अंतिम जिम्मेदारी उच्च अधिकारी के पास ही रहती है।
 - **विक्षेपण (Deconcentration):** केंद्रीय सरकार अपने कुछ कार्यों को अपने ही क्षेत्रीय या स्थानीय कार्यालयों में स्थानांतरित करती है, जहाँ स्थानीय अधिकारी केंद्रीय नियंत्रण में ही कार्य करते हैं।
 - **हस्तांतरण (Devolution):** यह सबसे पूर्ण प्रकार का प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण है , जहाँ शक्तियों, कार्यों और संसाधनों को स्वायत्त स्थानीय सरकारी निकायों (जैसे पंचायतें , नगर पालिकाएं) को स्थायी रूप से हस्तांतरित कर दिया जाता है। ये निकाय कानून द्वारा स्थापित होते हैं और स्थानीय स्तर पर स्वशासन का कार्य करते हैं।

2. वित्तीय विकेन्द्रीकरण (Fiscal Decentralization):

- इसमें केंद्रीय या राज्य सरकार से स्थानीय सरकारों को वित्तीय संसाधनों (कर लगाने का अधिकार , शुल्क एकत्र करना, अनुदान प्राप्त करना) का हस्तांतरण शामिल है।
- यह स्थानीय निकायों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार योजना बनाने और परियोजनाओं को वित्तपोषित करने में सक्षम बनाता है।

3. राजनीतिक विकेन्द्रीकरण (Political Decentralization/Democratic Decentralization):

- इसमें निर्णय लेने की शक्ति को निर्वाचित स्थानीय निकायों (जैसे ग्राम पंचायतें , ब्लॉक समितियां, जिला परिषदें, नगर पालिकाएं) को हस्तांतरित किया जाता है।
- इसका उद्देश्य नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी को बढ़ाना और स्थानीय स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करना है।

○ यह 'स्वशासन' की अवधारणा से निकटता से जुड़ा है।

विकेन्द्रीकृत प्रशासन के उद्देश्य और महत्व:

विकेन्द्रीकृत प्रशासन को अपनाने के कई महत्वपूर्ण कारण और लाभ हैं:

1. **स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशीलता:** स्थानीय अधिकारी और निकाय अपने क्षेत्र की विशिष्ट समस्याओं और आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से समझते हैं, जिससे अधिक प्रासंगिक और प्रभावी नीतियां और कार्यक्रम बन पाते हैं।
2. **नागरिक भागीदारी में वृद्धि:** यह स्थानीय स्तर पर नागरिकों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में सीधे शामिल होने का अवसर प्रदान करता है, जिससे लोकतांत्रिक भागीदारी बढ़ती है और नागरिक सशक्त होते हैं।
3. **दक्षता और प्रभावशीलता:** स्थानीय स्तर पर निर्णय लेने से नौकरशाही प्रक्रियाओं में लगने वाला समय कम होता है, जिससे सेवाओं का वितरण अधिक कुशल और त्वरित हो जाता है।
4. **केंद्र सरकार के बोझ में कमी:** यह केंद्र और राज्य सरकारों के कार्यभार को कम करता है, जिससे वे राष्ट्रीय महत्व के बड़े मुद्दों पर अधिक ध्यान केंद्रित कर पाते हैं।
5. **जवाबदेही में सुधार:** स्थानीय निकाय सीधे अपने नागरिकों के प्रति जवाबदेह होते हैं, क्योंकि नागरिक उनके प्रदर्शन को अधिक आसानी से देख और प्रभावित कर सकते हैं।
6. **नवाचार को बढ़ावा:** स्थानीय निकाय अपनी विशिष्ट चुनौतियों के लिए नवीन और रचनात्मक समाधान विकसित करने के लिए अधिक स्वतंत्र होते हैं।
7. **समावेशिता:** यह हाशिए पर पड़े और वंचित समुदायों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल होने के अधिक अवसर प्रदान करता है।
8. **प्रशासकों का प्रशिक्षण:** स्थानीय स्तर पर कार्य करने से प्रशासकों और राजनेताओं को व्यावहारिक अनुभव और प्रशिक्षण मिलता है।

विकेन्द्रीकृत प्रशासन की चुनौतियाँ:

हालांकि विकेन्द्रीकृत प्रशासन के कई फायदे हैं, इसे लागू करने और बनाए रखने में कुछ चुनौतियाँ भी आती हैं:

1. **वित्तीय संसाधनों की कमी:** अक्सर स्थानीय निकायों के पास अपने कार्यों को प्रभावी ढंग से करने के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन नहीं होते। वे केंद्र या राज्य सरकार पर निर्भर रहते हैं।
2. **मानव संसाधन और क्षमता का अभाव:** स्थानीय स्तर पर प्रशिक्षित और कुशल कर्मचारियों की कमी हो सकती है।
3. **जवाबदेही और पारदर्शिता की कमी:** यदि उचित निगरानी और जवाबदेही तंत्र मौजूद न हों, तो स्थानीय स्तर पर भ्रष्टाचार या अक्षमता बढ़ सकती है।
4. **राजनीतिक हस्तक्षेप:** राज्य सरकारें या स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति स्थानीय निकायों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप कर सकते हैं।
5. **योजना और समन्वय का अभाव:** विभिन्न स्थानीय इकाइयों के बीच समन्वय की कमी हो सकती है, जिससे बड़ी क्षेत्रीय योजनाओं का प्रभावी कार्यान्वयन बाधित हो सकता है।
6. **तकनीकी विशेषज्ञता की कमी:** कुछ जटिल परियोजनाओं के लिए आवश्यक तकनीकी विशेषज्ञता स्थानीय स्तर पर उपलब्ध नहीं हो सकती है।
7. **अति-स्थानीयवाद (Parochialism):** स्थानीय निर्णय लेते समय व्यापक क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हित की अनदेखी की जा सकती है।

भारत में विकेन्द्रीकृत प्रशासन:

भारत में विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को 73वें (पंचायती राज) और 74वें (नगरपालिकाएं) संविधान संशोधनों (1992) के माध्यम से संवैधानिक दर्जा दिया गया। इन संशोधनों ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन निकायों की स्थापना की, उन्हें शक्तियाँ, कार्य और वित्तीय संसाधन प्रदान किए। यह भारत में **लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण** का सबसे बड़ा उदाहरण है, जिसने जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करने और विकास को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

खण्ड—ख लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न न0 1— लोक प्रशासन और प्राइवेट प्रशासन में अन्तर बताइये।

उत्तर— लोक प्रशासन (Public Administration) और निजी प्रशासन (Private Administration) दो ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो 'प्रशासन' के व्यापक छत्र के अंतर्गत आते हैं। यद्यपि दोनों में कुछ सामान्य प्रशासनिक सिद्धांत और तकनीकों का उपयोग होता है, लेकिन उनके उद्देश्य, कार्यप्रणाली, जवाबदेही और सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में गहरे और मौलिक अंतर होते हैं। राजनीतिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन अंतरों को समझना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आइए इन दोनों के बीच के प्रमुख अंतरों पर विस्तार से चर्चा करें:

1. उद्देश्य (Objective):

- **लोक प्रशासन:** इसका प्राथमिक उद्देश्य सार्वजनिक सेवा (Public Service) और जन कल्याण (Public Welfare) है। सरकार का मुख्य लक्ष्य लाभ कमाना नहीं होता, बल्कि नागरिकों को आवश्यक सेवाएं प्रदान करना, सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना और समग्र विकास को बढ़ावा देना होता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा, स्वास्थ्य, कानून और व्यवस्था, बुनियादी ढाँचा आदि प्रदान करना।
- **निजी प्रशासन:** इसका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना (Profit Maximization) होता है। निजी संगठन अपने शेयरधारकों के लिए अधिकतम वित्तीय लाभ उत्पन्न करने के लिए कार्य करते हैं। उनकी सेवाएं या उत्पाद भी लाभ के उद्देश्य से बेचे जाते हैं।

2. राजनीतिक चरित्र (Political Character):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन का स्वभाव राजनीतिक होता है। यह राजनीतिक कार्यपालिका (मंत्रियों, विधायकों) द्वारा निर्धारित नीतियों को लागू करता है। लोक प्रशासकों को राजनीतिक दिशा-निर्देशों का पालन करना होता है और उन्हें राजनीतिक नेताओं के प्रति जवाबदेह रहना पड़ता है। सरकार बदलने पर नीतियों और प्राथमिकताओं में बदलाव आ सकता है, जिसका सीधा असर लोक प्रशासन पर पड़ता है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन का स्वभाव गैर-राजनीतिक होता है। यह सीधे तौर पर राजनीतिक दिशा-निर्देशों से प्रभावित नहीं होता, बल्कि इसका संचालन बाजार की ताकतों और कंपनी के आंतरिक राजनीतिक निर्णयों से होता है। यद्यपि सरकारी नीतियां (जैसे कर, नियामक कानून) निजी प्रशासन को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सकती हैं, इसका मुख्य ध्यान व्यावसायिक लक्ष्यों पर होता है।

3. जवाबदेही (Accountability):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन की जवाबदेही जनता, संसद/विधानमंडल, न्यायपालिका और नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसी विभिन्न संस्थाओं के प्रति होती है। इसके कार्यों की सार्वजनिक जाँच (Public Scrutiny) होती है, और पारदर्शिता (Transparency) एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। नागरिक सूचना के अधिकार के तहत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन की जवाबदेही मुख्य रूप से अपने मालिकों, शेयरधारकों और निदेशक मंडल के प्रति होती है। यद्यपि उन्हें कानूनी और नियामक ढाँचे का पालन करना होता है, लेकिन उनकी आंतरिक कार्यप्रणाली में लोक प्रशासन की तुलना में कम सार्वजनिक जाँच होती है।

4. वित्तीय नियंत्रण (Financial Control):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन का वित्तपोषण मुख्य रूप से करदाताओं के पैसे (कर, शुल्क) से होता है। इसके खर्च और बजट पर कठोर संसदीय/विधायी नियंत्रण होता है। प्रत्येक व्यय को नियमों और कानूनों के अनुसार अनुमोदित किया जाना चाहिए। 'लालफीताशाही' (Red Tapisim) अक्सर इसी कठोर वित्तीय नियंत्रण का परिणाम होती है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन का वित्तपोषण मुख्य रूप से निवेश, बिक्री से होने वाले राजस्व और ऋण से होता है। इनके वित्तीय निर्णय कंपनी के आंतरिक नियमों और बाजार की स्थितियों पर आधारित होते हैं। बाहरी वित्तीय नियंत्रण कम होता है, और वित्तीय प्रबंधन में अधिक लचीलापन होता है।

5. कानूनी ढाँचा और नियम (Legal Framework and Rules):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन का प्रत्येक कार्य संवैधानिक प्रावधानों, अधिनियमों, नियमों और विनियमों के एक कठोर कानूनी ढाँचे के भीतर होता है। अधिकारियों को अपने विवेक का उपयोग करने की सीमित स्वतंत्रता होती है; उन्हें निर्धारित प्रक्रियाओं और नियमों का पालन करना होता है। "कानून का शासन" (Rule of Law) यहाँ सर्वोपरि है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन में भी नियम और नीतियां होती हैं, लेकिन वे अक्सर आंतरिक होती हैं और अधिक लचीली होती हैं। प्रबंधकों के पास निर्णय लेने और प्रक्रियाओं को अनुकूलित करने के लिए अधिक विवेक होता है, जब तक कि वे सामान्य वाणिज्यिक कानूनों का उल्लंघन न करें।

6. एकाधिकार और प्रतियोगिता (Monopoly and Competition):

- **लोक प्रशासन:** कई सार्वजनिक सेवाएं (जैसे रेलवे, पुलिस, रक्षा) प्रकृति में एकाधिकार वाली होती हैं, जहाँ सरकार एकमात्र या प्रमुख प्रदाता होती है। यहाँ प्रतियोगिता का तत्व कम या अनुपस्थित होता है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन का संचालन आमतौर पर प्रतिस्पर्धी बाजार के वातावरण में होता है। कंपनियों को ग्राहकों को आकर्षित करने और लाभ कमाने के लिए अन्य कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी होती है।

7. व्यवहार में एकरूपता (Uniformity in Treatment):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन में नागरिकों के प्रति समान व्यवहार (Equal Treatment) का सिद्धांत महत्वपूर्ण है। सभी नागरिकों को समान रूप से सेवाओं तक पहुँच प्राप्त होनी चाहिए, और कोई भी अधिकारी किसी के प्रति पक्षपात नहीं कर सकता।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन में ग्राहकों के प्रति व्यवहार में एकरूपता की उतनी कठोर आवश्यकता नहीं होती। वे अपनी नीतियों के आधार पर ग्राहकों को अलग-अलग प्रस्ताव या प्राथमिकताएं दे सकते हैं (उदाहरण के लिए, वफादार ग्राहकों के लिए विशेष छूट)।

8. सेवा का पैमाना और जटिलता (Scale and Complexity of Services):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन का दायरा अत्यंत व्यापक होता है, जिसमें पूरे समाज और राष्ट्र के लिए विविध और जटिल सेवाएं शामिल होती हैं। यह जीवन के लगभग हर पहलू को छूता है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन का दायरा अक्सर विशिष्ट उत्पादों या सेवाओं तक सीमित होता है। यद्यपि कुछ बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी जटिल होती हैं, लेकिन उनका ध्यान अक्सर विशिष्ट व्यावसायिक क्षेत्रों पर केंद्रित होता है।

9. लालफीताशाही (Red-Tapism) और लचीलापन (Flexibility):

- **लोक प्रशासन:** सार्वजनिक धन के उपयोग में अत्यधिक सावधानी, नियमों का कठोर पालन, और कई स्तरों पर अनुमोदन प्रक्रियाओं के कारण लोक प्रशासन में अक्सर लालफीताशाही और धीमी गति देखी जाती है।
- **निजी प्रशासन:** निजी प्रशासन में निर्णय लेने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत तेज और अधिक लचीली होती है, क्योंकि उनका लक्ष्य दक्षता और त्वरित लाभ कमाना होता है। वे तेजी से बाजार परिवर्तनों के अनुकूल हो सकते हैं।

10. कार्मिक प्रबंधन (Personnel Management):

- **लोक प्रशासन:** लोक प्रशासन में भर्ती, पदोन्नति, स्थानांतरण और वेतन निर्धारण कठोर नियमों और सार्वजनिक सेवा आयोगों द्वारा किया जाता है। निष्पक्षता और योग्यता पर जोर दिया जाता है।

निजी प्रशासन: निजी प्रशासन में कार्मिक नीतियाँ अधिक लचीली होती हैं, और प्रदर्शन, लाभप्रदता, और व्यक्तिगत कंपनी की आवश्यकताओं के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं।

प्रश्न न0 2— विभाग से क्या अभिप्राय है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में 'विभाग' (Department) शब्द का गहरा और महत्वपूर्ण अर्थ है, खासकर जब हम किसी सरकार की संरचना, कार्यप्रणाली और सार्वजनिक प्रशासन पर चर्चा करते हैं। यह सरकार की कार्यकारी शाखा के भीतर एक **प्रमुख प्रशासनिक इकाई** को संदर्भित करता है, जो सार्वजनिक नीति के एक विशिष्ट क्षेत्र या सरकारी कार्य के लिए जिम्मेदार होती है।

आइए, राजनीतिक विज्ञान में 'विभाग' का क्या अर्थ है, इसे विस्तृत रूप से समझते हैं:

1. कार्यात्मक विशेषज्ञता और श्रम का विभाजन (Functional Specialization and Division of Labor):

विभाग का सबसे मौलिक अर्थ आधुनिक सरकार की विशाल और जटिल जिम्मेदारियों को प्रबंधनीय, विशिष्ट इकाइयों में **विभाजित करने में इसकी भूमिका** है। जिस तरह एक बड़े निगम में विनिर्माण, विपणन और वित्त के लिए अलग-अलग प्रभाग होते हैं, उसी तरह एक सरकार भी विशिष्ट नीतिगत क्षेत्रों को संभालने के लिए विभागों का निर्माण करती है। यह निम्नलिखित को संभव बनाता है:

- **विशेषज्ञता:** प्रत्येक विभाग अपने विशिष्ट क्षेत्र में विशेषज्ञता विकसित कर सकता है और उसका उपयोग कर सकता है (उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य मंत्रालय स्वास्थ्य देखभाल पर ध्यान केंद्रित करता है, शिक्षा विभाग स्कूली शिक्षा पर)।
- **दक्षता:** किसी विशेष कार्य पर संसाधनों और कर्मियों को केंद्रित करके, विभाग संचालन को सुव्यवस्थित कर सकते हैं और संभावित रूप से अधिक कुशलता से सेवाएं प्रदान कर सकते हैं।
- **जवाबदेही:** एक परिभाषित नीति क्षेत्र के भीतर प्रदर्शन के लिए जिम्मेदारी सौंपना और व्यक्तियों या समूहों को जवाबदेह ठहराना आसान हो जाता है।

2. पदानुक्रमित संरचना और नौकरशाही (Hierarchical Structure and Bureaucracy):

विभाग सरकार के भीतर **नौकरशाही संगठनों** के विशिष्ट उदाहरण हैं। वे निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त होते हैं:

- **पदानुक्रम:** एक स्पष्ट कमांड श्रृंखला, जिसके शीर्ष पर एक मंत्री या सचिव होता है, जिसके बाद सिविल सेवकों के विभिन्न स्तर (जैसे अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव, निदेशक, अवर सचिव, आदि) आते हैं।
- **नियम और प्रक्रियाएं:** विभाग स्थापित कानूनों, नियमों और विनियमों के अनुसार कार्य करते हैं, जो निर्णय लेने और सेवा वितरण में निरंतरता और निष्पक्षता सुनिश्चित करते हैं। यह अक्सर "कानून के शासन" (Rule of Law) की अवधारणा से जुड़ा होता है।

- **अव्यक्तिगतता:** निर्णय वस्तुनिष्ठ मानदंडों और स्थापित प्रक्रियाओं पर आधारित होने चाहिए, न कि व्यक्तिगत संबंधों या पूर्वाग्रहों पर।
- **कार्यों का विशेषज्ञता:** विभाग के भीतर प्रत्येक व्यक्ति की एक परिभाषित भूमिका और जिम्मेदारियों का समूह होता है, जो विभाग के समग्र कार्य में योगदान देता है।

3. राजनीतिक और प्रशासनिक प्रमुख (Political and Administrative Heads):

सरकारी विभाग की एक प्रमुख विशेषता, विशेष रूप से संसदीय प्रणालियों में, इसके राजनीतिक और प्रशासनिक प्रमुखों के बीच का अंतर है:

- **राजनीतिक प्रमुख (मंत्री/राज्य सचिव):** यह एक निर्वाचित अधिकारी (या निर्वाचित कार्यपालिका द्वारा नियुक्त) होता है जो कैबिनेट का सदस्य होता है। मंत्री नीति निर्धारित करने, विधायिका में विभाग का प्रतिनिधित्व करने के लिए जिम्मेदार होता है, और अंततः विभाग के प्रदर्शन के लिए जनता और प्रधानमंत्री/राष्ट्रपति के प्रति जवाबदेह होता है। वे राजनीतिक दिशा और दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।
- **प्रशासनिक प्रमुख (सचिव/स्थायी सचिव):** यह आमतौर पर एक वरिष्ठ सिविल सेवक (जैसे भारत में एक आईएएस अधिकारी) होता है जो विभाग का पेशेवर और प्रशासनिक प्रमुख होता है। वे दिन-प्रतिदिन के संचालन, नीतियों के कार्यान्वयन और मंत्री को विशेषज्ञ, राजनीतिक रूप से तटस्थ सलाह प्रदान करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। वे राजनीतिक नेतृत्व में बदलाव की परवाह किए बिना प्रशासन की निरंतरता सुनिश्चित करते हैं।

4. मंत्रालयों और अन्य निकायों के साथ संबंध (Relationship with Ministries and Other Bodies):

कई सरकारी संरचनाओं में, विशेष रूप से भारत में, "विभाग" शब्द का उपयोग अक्सर "मंत्रालय" के साथ किया जाता है:

- **मंत्रालय:** एक मंत्रालय आमतौर पर सार्वजनिक नीति के एक या एक से अधिक व्यापक क्षेत्रों के लिए जिम्मेदार सरकार में सर्वोच्च कार्यकारी प्राधिकरण होता है।
- **विभाग:** एक विभाग आमतौर पर एक मंत्रालय का हिस्सा होता है, जो उस मंत्रालय की जिम्मेदारी के भीतर एक अधिक विशिष्ट क्षेत्र पर ध्यान केंद्रित करता है। उदाहरण के लिए, भारत में गृह मंत्रालय के पास आंतरिक सुरक्षा विभाग, सीमा प्रबंधन विभाग आदि जैसे कई विभाग हैं।
- **संलग्न और अधीनस्थ कार्यालय:** विभाग अक्सर अपने अधीन "संलग्न कार्यालयों" (जो कार्यकारी दिशा और तकनीकी सलाह प्रदान करते हैं) और "अधीनस्थ कार्यालयों" (जो नीतियों के विस्तृत निष्पादन के लिए जिम्मेदार क्षेत्रीय प्रतिष्ठान हैं) को रखते हैं ताकि उनकी पहुंच का विस्तार हो सके और जमीनी स्तर पर नीतियों को लागू किया जा सके।

5. नीति निर्माण और कार्यान्वयन में भूमिका (Role in Policy Formulation and Implementation):

विभाग सार्वजनिक नीति के निर्माण और कार्यान्वयन दोनों के लिए केंद्रीय हैं:

- **नीति निर्माण:** जबकि राजनीतिक नेता व्यापक नीति एजेंडा निर्धारित करते हैं, विभाग कानूनों, विनियमों और कार्यक्रमों के विवरण विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे अनुसंधान करते हैं, हितधारकों से परामर्श करते हैं, नीति विकल्पों का विश्लेषण करते हैं, और मंत्री की मंजूरी और विधायी अधिनियमन के लिए प्रस्ताव तैयार करते हैं।
- **नीति कार्यान्वयन:** एक बार नीतियां अनुमोदित हो जाने के बाद, विभाग उन नीतियों को कार्रवाई में बदलने के लिए प्राथमिक एजेंसियां होती हैं। इसमें कार्यक्रमों को डिजाइन करना, संसाधनों का आवंटन करना, कर्मियों का प्रबंधन करना, सीधे नागरिकों को सेवाएं प्रदान करना और परिणामों की निगरानी करना शामिल है।

6. विभागीय संगठन का आधार (लूथर गुलिक के 4 Ps) (Basis of Departmental Organization - Luther Gulick's 4 Ps):

लोक प्रशासन के विद्वान लूथर गुलिक ने सरकारी विभागों को व्यवस्थित करने के लिए चार आधारों को प्रसिद्ध रूप से रेखांकित किया, जिन्हें अक्सर "4 Ps" कहा जाता है:

- **उद्देश्य (Purpose):** उनके मुख्य उद्देश्य या कार्य के आधार पर विभागों का आयोजन करना (उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य विभाग, शिक्षा विभाग)। यह सबसे आम आधार है।
- **प्रक्रिया (Process):** समान कौशल या प्रक्रियाओं का उपयोग करने वाली गतिविधियों का समूहन करना (उदाहरण के लिए, एक इंजीनियरिंग विभाग, हालांकि यह सरकार के उच्चतम स्तर पर कम आम है)।
- **व्यक्ति/ग्राहक (Persons/Clients):** उन विशिष्ट लोगों के समूहों के इर्द-गिर्द विभागों का आयोजन करना जिनकी वे सेवा करते हैं (उदाहरण के लिए, जनजातीय मामलों का विभाग, महिला एवं बाल विकास विभाग)।

स्थान/क्षेत्र (Place/Territory): एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर विभागों का आयोजन करना (उदाहरण के लिए, एक क्षेत्रीय विकास विभाग, हालांकि आमतौर पर, एक राष्ट्रीय विभाग सभी क्षेत्रों में काम करता है)।

प्रश्न न0 3— लोक कल्याणकारी राज्य एवं पुलिस स्टेट में क्या अन्तर है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में 'लोक कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) और 'पुलिस राज्य' (Police State) दो बिल्कुल विपरीत अवधारणाएँ हैं जो राज्य की प्रकृति, भूमिका और नागरिकों के साथ उसके संबंधों को परिभाषित करती हैं। ये दोनों अवधारणाएँ राज्य के कार्यक्षेत्र और उसके नागरिकों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव के बीच के मौलिक अंतर को स्पष्ट करती हैं।

आइए इन दोनों के बीच के अंतर को विस्तार से समझते हैं:

1. लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State)

लोक कल्याणकारी राज्य वह अवधारणा है जिसमें राज्य का प्राथमिक उद्देश्य अपने नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कल्याण को बढ़ावा देना होता है। इसमें राज्य निष्क्रिय भूमिका निभाने के बजाय सक्रिय रूप से समाज के कमजोर वर्गों की सहायता करने, सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने और सभी नागरिकों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने का प्रयास करता है।

मुख्य विशेषताएँ:

- **जन-कल्याण पर जोर:** इसका केंद्रीय लक्ष्य केवल कानून और व्यवस्था बनाए रखना नहीं, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा (पेंशन, बेरोजगारी भत्ता), आवास, गरीबी उन्मूलन आदि जैसी व्यापक सार्वजनिक सेवाएं प्रदान करना है।
- **सकारात्मक भूमिका:** राज्य एक हस्तक्षेपकर्ता (Interventionist) के रूप में कार्य करता है। यह बाजार की विफलताओं को दूर करने, आय और संपत्ति की असमानताओं को कम करने और अवसरों की समानता सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करता है।
- **सामाजिक न्याय:** यह सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित है, जिसका अर्थ है कि राज्य कमजोर और हाशिए पर पड़े समूहों को विशेष सहायता प्रदान करता है ताकि वे मुख्यधारा में शामिल हो सकें। जाति, धर्म, लिंग, वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है।
- **अधिकारों का व्यापक दायरा:** नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों (जैसे काम का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार) पर भी जोर दिया जाता है।
- **लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ:** आमतौर पर, लोक कल्याणकारी राज्य एक लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर कार्य करता है, जहाँ नागरिकों को राजनीतिक भागीदारी, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और अन्य मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं। सरकार जनता के प्रति जवाबदेह होती है।
- **उत्तरदायित्व और पारदर्शिता:** सरकार जनता के प्रति जवाबदेह होती है और सार्वजनिक धन के उपयोग में पारदर्शिता बनाए रखने का प्रयास करती है।
- **आर्थिक समानता का प्रयास:** यह पूर्ण समानता का दावा नहीं करता, लेकिन आय और धन के वितरण में असमानताओं को कम करने का लक्ष्य रखता है, अक्सर प्रगतिशील कराधान और सामाजिक हस्तांतरण के माध्यम से।

उदाहरण: स्कैंडिनेवियाई देश (स्वीडन, नॉर्वे, डेनमार्क), जर्मनी, कनाडा और कुछ हद तक भारत भी एक लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अपनाते हैं।

2. पुलिस राज्य (Police State)

'पुलिस राज्य' की अवधारणा इसके नाम से ही स्पष्ट होती है कि इसमें पुलिस और सुरक्षा तंत्र की भूमिका सर्वोपरि होती है। यह एक ऐसा राज्य है जहाँ सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग मुख्य रूप से बल, निगरानी और नियंत्रण के माध्यम से करती है ताकि कानून और व्यवस्था बनाए रखी जा सके और आंतरिक विरोध को दबाया जा सके। यह नागरिकों की स्वतंत्रता और अधिकारों को गौण मानता है।

मुख्य विशेषताएँ:

- **दमनकारी नियंत्रण:** राज्य का प्राथमिक कार्य नागरिकों के जीवन के हर पहलू पर सख्त नियंत्रण और निगरानी रखना होता है। पुलिस और गुप्तचर एजेंसियाँ व्यापक अधिकार और शक्ति का प्रयोग करती हैं।
- **व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव:** नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ (जैसे भाषण, सभा, संगठन, मीडिया की स्वतंत्रता) गंभीर रूप से प्रतिबंधित या अनुपस्थित होती हैं। सरकार के आलोचकों को अक्सर गिरफ्तार कर लिया जाता है या उनका दमन किया जाता है।
- **कानून और व्यवस्था पर अत्यधिक जोर:** "कानून और व्यवस्था" बनाए रखने के नाम पर अक्सर मनमानी गिरफ्तारियाँ, पूछताछ और असंतोष का क्रूर दमन किया जाता है।
- **अन्यायपूर्ण न्यायिक प्रणाली:** न्यायपालिका अक्सर कार्यपालिका के नियंत्रण में होती है और निष्पक्ष न्याय प्रदान करने में असमर्थ होती है। 'कानून का शासन' (Rule of Law) वास्तविक अर्थों में लागू नहीं होता।

- **सत्ता का केंद्रीकरण:** सत्ता अत्यधिक केंद्रीकृत होती है, और निर्णय लेने की प्रक्रिया में नागरिकों की भागीदारी का कोई स्थान नहीं होता।
- **सेना और पुलिस का प्रभुत्व:** राज्य की शक्ति का प्रदर्शन मुख्य रूप से उसकी विशाल और शक्तिशाली पुलिस और सैन्य बलों के माध्यम से होता है। इन बलों को अक्सर जवाबदेही से छूट प्राप्त होती है।
- **डर का माहौल:** नागरिकों में लगातार डर और असुरक्षा का माहौल बना रहता है, जिससे वे सरकार की आलोचना करने या उसके खिलाफ खड़े होने से डरते हैं।
- **गोपनीयता का उल्लंघन:** नागरिकों की गोपनीयता का कोई सम्मान नहीं होता। सरकार फोन टैपिंग , ऑनलाइन निगरानी और अन्य तरीकों से नागरिकों की गतिविधियों पर नज़र रखती है।

उदाहरण: ऐतिहासिक रूप से , नाज़ी जर्मनी , सोवियत संघ (कुछ हद तक) , और कुछ अधिनायकवादी शासन (जैसे उत्तर कोरिया) को पुलिस राज्यों के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

लोक कल्याणकारी राज्य और पुलिस राज्य के बीच मुख्य अंतर:

अंतर का आधार	लोक कल्याणकारी राज्य	पुलिस राज्य
राज्य की भूमिका	सक्रिय, हस्तक्षेपकर्ता, जन-कल्याण पर केंद्रित।	दमनकारी, नियंत्रणकारी, कानून-व्यवस्था पर केंद्रित।
प्राथमिक उद्देश्य	सामाजिक-आर्थिक कल्याण, न्याय और समानता को बढ़ावा।	आंतरिक व्यवस्था बनाए रखना, विरोध को दबाना।
नागरिकों के अधिकार	व्यापक (राजनीतिक, नागरिक, आर्थिक, सामाजिक)।	सीमित या अनुपस्थित (विशेषकर राजनीतिक स्वतंत्रता)।
राज्य का साधन	सार्वजनिक सेवाएँ, नीतियाँ, कानून, लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ।	बल, निगरानी, दमन, भय।
शासन प्रणाली	आमतौर पर लोकतांत्रिक, जवाबदेह।	अक्सर अधिनायकवादी, गैर-जवाबदेह।
नागरिकों से संबंध	सहयोगी, समर्थक, सशक्तिकरण पर जोर।	नियंत्रक, निगरानीकर्ता, अधीनस्थता पर जोर।
न्यायपालिका	स्वतंत्र और निष्पक्ष।	कार्यपालिका के अधीन या निष्पक्षता का अभाव।
अर्थव्यवस्था	मिश्रित अर्थव्यवस्था, विनियमन और पुनर्वितरण।	पूर्ण राज्य नियंत्रण या बाजार पर पूर्ण प्रभुत्व।
पारदर्शिता	उच्च स्तर की पारदर्शिता का प्रयास।	गोपनीयता और अस्पष्टता।

प्रश्न न0 4— लोक निगम से आप क्या समझते हैं।

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में, 'लोक निगम' (Public Corporation) या 'सार्वजनिक निगम' एक विशिष्ट प्रकार का सरकारी संगठन है जिसे सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है। यह सरकारी विभाग और निजी कंपनी दोनों की विशेषताओं का एक मिश्रण होता है। लोक निगम को अक्सर उन कार्यों को करने के लिए पसंद किया जाता है जहाँ सरकारी विभागों की कठोर नौकरशाही और निजी कंपनियों के लाभ-उन्मुख दृष्टिकोण के बीच संतुलन की आवश्यकता होती है।

आइए, 'लोक निगम' की अवधारणा को विस्तार से समझते हैं:

लोक निगम की परिभाषा:

लोक निगम एक **अर्ध-स्वायत्त सरकारी उद्यम** है जिसकी स्थापना संसद या राज्य विधानमंडल द्वारा पारित एक **विशेष कानून (अधिनियम)** के तहत की जाती है। इस अधिनियम में इसके उद्देश्य , शक्तियाँ, कार्य, प्रबंधन संरचना, वित्तीय व्यवस्था और सरकार के साथ इसके संबंधों का स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है।

विभिन्न विद्वानों ने लोक निगम को अलग-अलग तरीकों से परिभाषित किया है:

- **हरबर्ट मोरीसन (Herbert Morrison) के अनुसार:** "लोक निगम सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए सरकारी स्थायित्व , लोक उत्तरदायित्व तथा व्यापार प्रबंधन का संयोजन है।"
- **अर्नेस्ट डेविस (Ernest Davies) के अनुसार:** "निश्चित शक्तियों और कार्यों तथा वित्तीय स्वतंत्रता सहित सार्वजनिक शक्ति द्वारा उत्पन्न निगम संयुक्त मंडल हैं।"
- **डिमॉक (Dimock) के अनुसार:** "सरकारी निगम वह सरकारी उद्यम है जिसकी स्थापना किसी निश्चित व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए संघीय, राज्य, अथवा स्थानीय कानून के अंतर्गत की गई हो।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि लोक निगम एक ऐसा निकाय है जो राज्य के किसी विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है और उसे स्वयं अपने प्रबंधन एवं वित्त की व्यवस्था करने में कुछ हद तक स्वायत्तता प्राप्त होती है।

लोक निगम की प्रमुख विशेषताएँ:

1. **विशेष अधिनियम द्वारा स्थापना:** लोक निगमों का निर्माण संसद या राज्य विधानमंडल द्वारा पारित एक विशिष्ट अधिनियम के तहत होता है। यह अधिनियम ही निगम को कानूनी अस्तित्व और शक्तियाँ प्रदान करता है।
2. **पृथक कानूनी अस्तित्व:** लोक निगम का सरकार से एक स्वतंत्र और पृथक कानूनी अस्तित्व होता है। यह अपने नाम पर संपत्ति खरीद और बेच सकता है , अनुबंध कर सकता है, मुकदमा कर सकता है और उस पर मुकदमा भी चलाया जा सकता है।
3. **वित्तीय स्वायत्तता:** लोक निगमों को सामान्यतः वित्तीय मामलों में कुछ हद तक स्वायत्तता प्राप्त होती है। उन्हें अपना राजस्व उत्पन्न करने, बजट बनाने और अपने स्वयं के नियमों के अनुसार खर्च करने की अनुमति होती है , हालांकि उन्हें सरकारी अनुदान भी मिल सकता है। वे सरकारी खजाने का हिस्सा नहीं होते और उनके खाते सीधे सरकारी लेखा परीक्षा के अधीन नहीं होते (हालांकि संसद या नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा निरीक्षण हो सकता है)।
4. **प्रबंधकीय स्वायत्तता:** लोक निगमों का प्रबंधन आमतौर पर एक निदेशक मंडल या बोर्ड द्वारा किया जाता है , जिसके सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। यह बोर्ड निगम के दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है और उसे सरकारी विभागों की तुलना में अधिक लचीलापन प्राप्त होता है।
5. **गैर-लाभकारी या सेवा-उन्मुख:** लोक निगमों का प्राथमिक उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता , बल्कि जनता को आवश्यक वस्तुएँ या सेवाएँ उचित मूल्य पर प्रदान करना होता है। हालाँकि , वे वित्तीय रूप से आत्मनिर्भर होने और घाटे से बचने का प्रयास कर सकते हैं।
6. **सार्वजनिक जवाबदेही:** यद्यपि उन्हें स्वायत्तता प्राप्त होती है, लोक निगम पूरी तरह से अनियंत्रित नहीं होते। वे संसद या विधायिका के प्रति जवाबदेह होते हैं, जिसके तहत उनके कामकाज पर चर्चा की जा सकती है, और मंत्री उनके प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार होते हैं।
7. **स्वयं के कार्मिक नियम:** लोक निगमों के अपने स्वयं के कार्मिक नियम और सेवा शर्तें होती हैं , जो सरकारी विभागों के कर्मचारियों पर लागू होने वाले नियमों से भिन्न होती हैं। यह उन्हें योग्यता के आधार पर कर्मचारियों की भर्ती और उनके प्रदर्शन को पुरस्कृत करने में अधिक लचीलापन देता है।
8. **व्यावसायिक दृष्टिकोण:** लोक निगमों को अक्सर सरकारी विभागों की नौकरशाही की तुलना में अधिक व्यावसायिक और कुशल तरीके से कार्य करने के लिए डिज़ाइन किया जाता है। वे बाजार की स्थितियों के प्रति अधिक तेज़ी से प्रतिक्रिया कर सकते हैं।

लोक निगमों की स्थापना के कारण और उद्देश्य:

लोक निगमों को विभिन्न उद्देश्यों के लिए स्थापित किया जाता है, जिनमें शामिल हैं:

- **व्यावसायिक कार्यों का संचालन:** ऐसे औद्योगिक और वाणिज्यिक कार्यों को चलाने के लिए जिन्हें सरकारी विभाग की कठोर कार्यप्रणाली के तहत कुशलता से नहीं चलाया जा सकता (जैसे रेलवे, बिजली बोर्ड, बीमा कंपनियाँ)।
- **सार्वजनिक उपयोगिताएँ प्रदान करना:** आवश्यक सार्वजनिक उपयोगिता सेवाएँ (जैसे जल आपूर्ति, गैस, परिवहन) प्रदान करना, जहाँ निजी क्षेत्र या तो अनिच्छुक हो या एकाधिकार की संभावना हो।
- **सामाजिक न्याय और कल्याण:** सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को कम करने, कमजोर वर्गों को सहायता प्रदान करने और समाज कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने के लिए (जैसे खाद्य निगम)।

- **आर्थिक विकास को बढ़ावा देना:** राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्रों में निवेश और पहल करना , खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ निजी निवेश अपर्याप्त हो।
- **राजनीतिक हस्तक्षेप से बचाव:** इन संस्थाओं को दैनिक राजनीतिक हस्तक्षेप से बचाना, ताकि वे पेशेवर और उद्देश्यपूर्ण तरीके से कार्य कर सकें।
- **वित्तपोषण की सुविधा:** वित्तीय बाजारों से सीधे धन जुटाने की क्षमता रखना।

लोक निगमों के लाभ (Advantages):

- **लचीलापन और दक्षता:** विभागीय उपक्रमों की तुलना में अधिक लचीलापन होता है , जिससे वे बाजार की बदलती परिस्थितियों के अनुसार तेजी से निर्णय ले सकते हैं और अधिक कुशलता से कार्य कर सकते हैं।
- **विशेषज्ञता:** विशिष्ट क्षेत्रों में विशेषज्ञता विकसित करने और बनाए रखने में सक्षम होते हैं।
- **राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्ति:** यद्यपि संसदीय नियंत्रण होता है , लेकिन दैनिक राजनीतिक हस्तक्षेप से कुछ हद तक मुक्ति मिलती है।
- **त्वरित निर्णय:** नौकरशाही प्रक्रियाओं की कमी के कारण निर्णय लेने में तेजी आती है।
- **जन सेवा पर ध्यान:** लाभ कमाने के बजाय जन सेवा पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

लोक निगमों की सीमाएँ/समस्याएँ (Limitations/Problems):

- **वास्तविक स्वायत्तता का अभाव:** अक्सर, घोषित स्वायत्तता के बावजूद , सरकार और राजनीतिक हस्तक्षेप का सामना करना पड़ता है।
- **लालफीताशाही:** समय के साथ , कुछ लोक निगम भी सरकारी विभागों की तरह नौकरशाही और लालफीताशाही का शिकार हो सकते हैं।
- **जवाबदेही का मुद्दा:** स्वायत्तता और जवाबदेही के बीच संतुलन स्थापित करना मुश्किल हो सकता है। अत्यधिक स्वायत्तता जवाबदेही को कम कर सकती है, जबकि अत्यधिक नियंत्रण लचीलेपन को बाधित कर सकता है।
- **लाभहीनता:** सार्वजनिक उद्देश्यों पर ध्यान केंद्रित करने के कारण, वे अक्सर लाभहीन हो सकते हैं और सरकारी खजाने पर बोझ बन सकते हैं।
- **पदोन्नति और प्रेरणा की समस्या:** अक्सर निजी क्षेत्र की तरह आकर्षक प्रोत्साहन प्रणाली नहीं होती , जिससे कर्मचारियों की प्रेरणा प्रभावित हो सकती है।

भारतीय संदर्भ में लोक निगम:

भारत में लोक निगमों का एक लंबा इतिहास रहा है, खासकर स्वतंत्रता के बाद के युग में जब सरकार ने आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। भारतीय रिजर्व बैंक (RBI), भारतीय जीवन बीमा निगम (LIC), भारतीय स्टेट बैंक (SBI), भारतीय खाद्य निगम (FCI), दामोदर घाटी निगम (DVC) आदि लोक निगमों के प्रमुख उदाहरण हैं। इन निगमों ने भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हालांकि , उदारीकरण और निजीकरण के दौर में कई लोक निगमों का पुनर्गठन किया गया है, और उनकी भूमिका पर लगातार बहस होती रहती है।

प्रश्न न० 5— स्वतंत्र नियामक आयोग से क्या अभिप्राय है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में 'स्वतंत्र नियामक आयोग' (Independent Regulatory Commission - IRC) एक ऐसी विशिष्ट प्रशासनिक इकाई है जिसे सरकार द्वारा किसी विशेष क्षेत्र या उद्योग को विनियमित (Regulate) करने के लिए स्थापित किया जाता है, लेकिन जिसे कार्यकारी (Executive) शाखा के प्रत्यक्ष नियंत्रण और राजनीतिक दबाव से महत्वपूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होती है। इनका उदय मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ था , लेकिन अब यह अवधारणा विश्व के कई देशों में प्रचलित है, खासकर उदारीकरण और निजीकरण के बाद।

आइए, स्वतंत्र नियामक आयोगों के अभिप्राय को विस्तार से समझते हैं:

स्वतंत्र नियामक आयोग का अर्थ और उद्देश्य:

स्वतंत्र नियामक आयोग वे संस्थाएँ हैं जो सरकार और जनता के बीच संतुलन बनाए रखने का काम करती हैं। ये ऐसे क्षेत्रों में कार्यरत होते हैं जहाँ सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक तो होता है , लेकिन पूर्ण नियंत्रण अनुचित या अकुशल हो सकता है। इनका मुख्य उद्देश्य जनहित को ध्यान में रखते हुए नीतियों को लागू करना , प्रतिस्पर्धा बनाए रखना और नियमों का पालन सुनिश्चित करना होता है।

मुख्य उद्देश्य:

1. **निष्पक्ष विनियमन (Fair Regulation):** किसी भी क्षेत्र में अनुचित व्यापार प्रथाओं को रोकना , एकाधिकार को नियंत्रित करना और स्वस्थ प्रतिस्पर्धा बनाए रखना।

2. **उपभोक्ता संरक्षण (Consumer Protection):** जनता को शोषण, अनुचित मूल्य निर्धारण और गैर-कानूनी गतिविधियों से बचाना।
3. **नीतियों का प्रभावी कार्यान्वयन:** सरकार की विकास योजनाओं और सुधारों को तकनीकी विशेषज्ञता के साथ सही ढंग से लागू करना।
4. **निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच संतुलन:** निजी कंपनियों को अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप से बचाना , लेकिन यह भी सुनिश्चित करना कि वे जनता के हित में काम करें।
5. **संस्थागत स्वायत्तता (Institutional Autonomy):** सरकार और उद्योगों से स्वतंत्र रहकर अपने निर्णय लेने की क्षमता को बरकरार रखना ताकि वे तटस्थ और तकनीकी रूप से सही निर्णय ले सकें।

स्वतंत्र नियामक आयोगों की प्रमुख विशेषताएँ:

1. **विशेष अधिनियम द्वारा स्थापना:** ये आयोग संसद या विधानमंडल द्वारा पारित एक विशिष्ट अधिनियम के तहत स्थापित होते हैं। यह अधिनियम आयोग की संरचना, शक्तियाँ, कार्य और सीमाएँ निर्धारित करता है।
2. **कार्यपालिका से स्वतंत्रता:** यह इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। आयोग के सदस्य और अध्यक्ष की नियुक्ति भले ही कार्यपालिका (राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री) द्वारा की जाती है , लेकिन एक बार नियुक्त होने के बाद , उन्हें कार्यकाल की सुरक्षा प्राप्त होती है और उन्हें आसानी से हटाया नहीं जा सकता (जैसे कि केवल महाभियोग या गंभीर दुराचार के आधार पर)। यह उन्हें राजनीतिक दबाव के बिना काम करने में सक्षम बनाता है।
3. **अर्ध-विधायी, अर्ध-कार्यकारी और अर्ध-न्यायिक कार्य:**
 - **अर्ध-विधायी (Quasi-Legislative):** आयोग अपने क्षेत्र से संबंधित नियमों और विनियमों का मसौदा तैयार करते हैं और उन्हें लागू करते हैं, जो कानून का दर्जा रखते हैं।
 - **अर्ध-कार्यकारी (Quasi-Executive):** वे अपने बनाए गए नियमों को लागू करते हैं , उद्योगों की निगरानी करते हैं , लाइसेंस जारी करते हैं और अनुपालन सुनिश्चित करते हैं।
 - **अर्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial):** वे नियमों के उल्लंघन से संबंधित विवादों को सुनते हैं , जुर्माना लगाते हैं और अपने क्षेत्र से संबंधित शिकायतों का निवारण करते हैं। उनके निर्णय अक्सर अदालतों में चुनौती दिए जा सकते हैं।
4. **विशेषज्ञता और तकनीकी दक्षता:** आयोगों में आमतौर पर संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञ (इंजीनियर , अर्थशास्त्री, कानूनी विशेषज्ञ) शामिल होते हैं। यह उन्हें जटिल तकनीकी और आर्थिक मुद्दों पर सूचित निर्णय लेने में मदद करता है , जो सामान्य सरकारी विभागों के लिए कठिन हो सकता है।
5. **बहु-सदस्यीय निकाय:** अधिकांश स्वतंत्र नियामक आयोग एक व्यक्ति द्वारा नहीं , बल्कि एक बहु-सदस्यीय बोर्ड या आयोग द्वारा संचालित होते हैं। यह विभिन्न दृष्टिकोणों को समाहित करने और अधिक विचार-विमर्श के बाद निर्णय लेने में मदद करता है।
6. **वित्तपोषण:** उन्हें आमतौर पर सरकारी बजटीय आवंटन से वित्त पोषित किया जाता है , लेकिन इनकी वित्तीय स्वायत्तता भी सुनिश्चित की जाती है ताकि ये अपने कार्यों को स्वतंत्र रूप से निष्पादित कर सकें।
7. **संसद/विधानमंडल के प्रति जवाबदेही:** यद्यपि ये कार्यपालिका के प्रत्यक्ष नियंत्रण से मुक्त होते हैं , ये विधायिका (संसद/विधानसभा) के प्रति जवाबदेह होते हैं। विधायिका इनके कार्यों की समीक्षा कर सकती है और रिपोर्ट मांग सकती है।

स्वतंत्र नियामक आयोगों का राजनीतिक विज्ञान में महत्व:

राजनीतिक विज्ञान में स्वतंत्र नियामक आयोगों का अध्ययन सरकार और समाज के बीच संबंधों , प्रशासनिक व्यवस्था , लोकतांत्रिक जवाबदेही और आर्थिक नीतियों को समझने के लिए बहुत जरूरी है:

1. **लोकतांत्रिक शासन और प्रशासनिक सुधार:** लोकतंत्र में, सरकार की जिम्मेदारी होती है कि वह सार्वजनिक संसाधनों का सही उपयोग सुनिश्चित करे और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करे। लेकिन कई बार , सरकार द्वारा लिए गए फैसले पक्षपातपूर्ण हो सकते हैं या राजनीतिक दबाव में आ सकते हैं। स्वतंत्र नियामक आयोग सरकार के इस प्रभाव को कम करने और नीतियों को निष्पक्ष रूप से लागू करने में मदद करते हैं। ये प्रशासनिक व्यवस्था में विशेषज्ञता और दक्षता लाते हैं।
2. **शासन की जटिलता का समाधान:** आधुनिक समाज में अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी की जटिलता बढ़ी है। सरकार के पारंपरिक विभाग इन जटिल और तकनीकी क्षेत्रों को कुशलता से विनियमित करने में सक्षम नहीं हो सकते। नियामक आयोग इन विशिष्ट क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्रदान करते हैं और लचीले तरीके से नियमों को अनुकूलित कर सकते हैं।

3. **न्याय और निष्पक्षता सुनिश्चित करना:** ये आयोग अपने अर्ध-न्यायिक कार्यों के माध्यम से विवादों का समाधान करते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि किसी भी उद्योग या उपभोक्ता के साथ अनुचित व्यवहार न हो। यह शासन में न्याय और निष्पक्षता के सिद्धांत को बढ़ावा देता है।
4. **राज्य की भूमिका का विकास:** उदारीकरण और निजीकरण के युग में , राज्य की भूमिका बदल गई है। अब राज्य केवल सेवाओं का प्रदाता नहीं , बल्कि एक सुविधा प्रदाता (Facilitator) और नियामक (Regulator) भी है। स्वतंत्र नियामक आयोग इस बदलती हुई भूमिका में महत्वपूर्ण हैं , क्योंकि वे निजी क्षेत्र को संचालित करने के लिए एक पारदर्शी और निष्पक्ष ढाँचा प्रदान करते हैं।
5. **सार्वजनिक विश्वास और निवेश को बढ़ावा:** जब नियामक निकाय स्वतंत्र और निष्पक्ष होते हैं , तो वे उद्योगों में निवेशकों और उपभोक्ताओं का विश्वास बढ़ाते हैं। यह आर्थिक विकास और स्थिरता के लिए महत्वपूर्ण है। निवेशक यह जानते हुए निवेश करते हैं कि उनके साथ निष्पक्ष व्यवहार किया जाएगा और उपभोक्ता यह जानते हुए सेवाओं का उपयोग करते हैं कि उनके हितों की रक्षा की जाएगी।

भारत में स्वतंत्र नियामक आयोगों के उदाहरण:

भारत में, कई महत्वपूर्ण स्वतंत्र नियामक आयोग हैं जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है:

- **भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण (TRAI):** दूरसंचार क्षेत्र में सेवाओं की गुणवत्ता , टैरिफ और प्रतिस्पर्धा को विनियमित करता है।
- **भारतीय प्रतिभूति और विनियम बोर्ड (SEBI):** शेयर बाजार और प्रतिभूति बाजार को विनियमित करता है ताकि निवेशकों के हितों की रक्षा की जा सके।
- **भारतीय रिजर्व बैंक (RBI):** भारत का केंद्रीय बैंक है , जो मौद्रिक नीति , बैंकिंग प्रणाली और वित्तीय स्थिरता को विनियमित करता है।
- **भारतीय बीमा विनियामक और विकास प्राधिकरण (IRDAI):** बीमा क्षेत्र को विनियमित करता है।
- **भारतीय प्रतिस्पर्धा आयोग (CCI):** बाजार में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा सुनिश्चित करता है और एकाधिकारवादी प्रथाओं को रोकता है।
- **केंद्रीय विद्युत नियामक आयोग (CERC):** विद्युत क्षेत्र में टैरिफ, अंतर-राज्यीय पारेषण आदि को विनियमित करता है।
- **भारत निर्वाचन आयोग (ECI):** हालांकि यह एक संवैधानिक निकाय है , लेकिन अपने कार्यों की स्वायत्तता और विनियमन क्षमता के कारण इसे अक्सर एक स्वतंत्र नियामक आयोग के समान माना जाता है , जो चुनावों को स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप से आयोजित करता है।

संघ लोक सेवा आयोग (UPSC): सिविल सेवाओं में भर्ती की निष्पक्षता सुनिश्चित करता है।

प्रश्न नं० 6— लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण कैसे होता है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में, 'लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण' (Legislative Control over Public Administration) का अभिप्राय उस प्रक्रिया और तंत्र से है जिसके द्वारा विधायिका (जैसे भारत में संसद या राज्य विधानसभाएँ) कार्यपालिका और उसके अधीनस्थ लोक प्रशासन के कार्यों की निगरानी , समीक्षा और नियंत्रण करती है। यह लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का एक अनिवार्य पहलू है , क्योंकि यह सुनिश्चित करता है कि प्रशासन जनता के प्रति जवाबदेह रहे और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करे।

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में, विशेषकर संसदीय प्रणाली में, प्रशासन पर विधायी नियंत्रण अत्यंत महत्वपूर्ण है। मंत्री और उनके विभाग सामूहिक रूप से संसद/विधानसभा के प्रति जवाबदेह होते हैं। विधायिका, जनता के प्रतिनिधियों के रूप में, यह सुनिश्चित करने का प्रयास करती है कि प्रशासन अपनी गतिविधियों में निर्धारित नीतियों , कानूनों और सार्वजनिक हित के अनुरूप कार्य करे।

लोक प्रशासन पर विधायी नियंत्रण के विभिन्न तरीके और उपकरण निम्नलिखित हैं:

1. विधायी या कानूनी नियंत्रण (Legislative or Legal Control):

- **कानून बनाना (Law Making):** विधायिका प्रशासन के संगठन, कार्यों, शक्तियों और प्रक्रियाओं को निर्धारित करने वाले कानून बनाती है। कोई भी विभाग अपनी शक्तियों का प्रयोग केवल उन्हीं कानूनों के दायरे में कर सकता है जो विधायिका द्वारा पारित किए गए हैं।
- **प्रत्यायोजित विधान पर नियंत्रण (Control over Delegated Legislation):** आधुनिक जटिल शासन में , विधायिका सभी विवरणों वाले कानून नहीं बना सकती। वह कुछ मामलों में नियम बनाने की शक्ति कार्यपालिका (प्रशासन) को प्रत्यायोजित कर देती है। विधायिका इस प्रत्यायोजित विधान (subordinate legislation) पर विभिन्न समितियों (जैसे

अधीनस्थ विधान समिति) के माध्यम से नियंत्रण रखती है ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि बनाए गए नियम मूल कानून के दायरे से बाहर न हों।

2. वित्तीय नियंत्रण (Financial Control):

लोक प्रशासन पर वित्तीय नियंत्रण विधायिका के सबसे शक्तिशाली उपकरणों में से एक है , क्योंकि 'बिना प्रतिनिधित्व के कराधान नहीं' (No taxation without representation) का सिद्धांत लोकतंत्र का आधार है।

- **बजट का अनुमोदन (Approval of Budget):** कार्यपालिका कोई भी धन खर्च नहीं कर सकती जब तक कि विधायिका वार्षिक बजट को मंजूरी न दे दे। विधायिका बजट में कटौती कर सकती है , जिससे विभागों के वित्तीय संसाधनों पर सीधा असर पड़ता है।
- **अनुदानों की मांगें (Demands for Grants):** प्रत्येक मंत्रालय को अपने प्रस्तावित खर्चों के लिए संसद से अनुदान की मांग करनी पड़ती है। इन मांगों पर विस्तृत चर्चा होती है, और सदस्य प्रशासन की नीतियाँ और प्रदर्शन की आलोचना कर सकते हैं।
- **वित्त विधेयक और विनियोग विधेयक (Finance Bill and Appropriation Bill):** बजट के अनुमोदन के बाद , विधायिका वित्त विधेयक (करों से संबंधित) और विनियोग विधेयक (खर्चों से संबंधित) पारित करती है, जो सरकार को धन जुटाने और खर्च करने की कानूनी अनुमति देते हैं।
- **अनुपूरक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान, आदि (Supplementary Grants, Excess Grants, etc.):** यदि वित्तीय वर्ष के दौरान अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है , तो प्रशासन को विधायिका से अनुपूरक अनुदान के लिए अनुमति लेनी पड़ती है, जो नियंत्रण का एक और अवसर प्रदान करता है।
- **महालेखा परीक्षक की भूमिका (Role of Comptroller and Auditor General - CAG):** CAG एक स्वतंत्र संवैधानिक निकाय है जो सरकार के खातों का ऑडिट करता है और अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति/राज्यपाल को सौंपता है , जो इसे विधायिका के समक्ष रखते हैं। CAG की रिपोर्ट प्रशासन द्वारा धन के उचित और कुशल उपयोग पर एक महत्वपूर्ण नियंत्रण है।
- **वित्तीय समितियाँ (Financial Committees):** संसद के पास तीन प्रमुख वित्तीय समितियाँ होती हैं जो प्रशासन पर वित्तीय नियंत्रण रखती हैं:
 - **लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee - PAC):** यह CAG की रिपोर्ट की जाँच करती है और यह सुनिश्चित करती है कि सार्वजनिक धन कानून के अनुसार खर्च किया गया है।
 - **प्राक्कलन समिति (Estimates Committee):** यह प्रशासनिक दक्षता और अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए अनुमानों की जाँच करती है और सुझाव देती है।
 - **सार्वजनिक उपक्रम समिति (Committee on Public Undertakings):** यह सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के खातों और प्रदर्शन की जाँच करती है।

3. विचार-विमर्श और बहस संबंधी नियंत्रण (Deliberative and Debating Control):

विधायिका विभिन्न प्रकार की चर्चाओं और बहसों के माध्यम से प्रशासन पर नियंत्रण रखती है:

- **प्रश्नकाल (Question Hour):** संसद/विधानसभा के प्रत्येक सत्र की शुरुआत प्रश्नकाल से होती है , जहाँ सदस्य मंत्रियों से सार्वजनिक महत्व के मामलों पर प्रश्न पूछते हैं। यह मंत्रियों और उनके विभागों को सतर्क और जवाबदेह रखता है।
- **शून्यकाल (Zero Hour):** यह एक अनौपचारिक तंत्र है जहाँ सदस्य बिना किसी पूर्व सूचना के तत्काल सार्वजनिक महत्व के मामलों को उठा सकते हैं।
- **अल्पकालिक चर्चा (Short Duration Discussion):** सदस्य सार्वजनिक महत्व के किसी तात्कालिक मामले पर अल्पकालिक चर्चा की मांग कर सकते हैं।
- **ध्यानाकर्षण प्रस्ताव (Calling Attention Motion):** यह सदस्यों को सार्वजनिक महत्व के किसी तत्काल मामले पर मंत्री का ध्यान आकर्षित करने और उस पर बयान देने के लिए उपयोग किया जाता है।
- **स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion):** यह एक गंभीर उपकरण है जहाँ संसद के सामान्य कामकाज को स्थगित कर एक तत्काल और गंभीर सार्वजनिक महत्व के मामले पर चर्चा की जाती है। यदि यह प्रस्ताव पारित हो जाता है , तो यह सरकार की नीति या कार्यवाही पर अविश्वास व्यक्त करता है।
- **अविश्वास प्रस्ताव (No-Confidence Motion):** संसदीय लोकतंत्र में, यदि कार्यपालिका विधायिका का विश्वास खो देती है, तो अविश्वास प्रस्ताव लाया जा सकता है। यदि यह पारित हो जाता है , तो सरकार को इस्तीफा देना पड़ता है। यह प्रशासन पर अंतिम और सबसे शक्तिशाली राजनीतिक नियंत्रण है।

- **बजट पर सामान्य चर्चा (General Discussion on Budget):** बजट पर होने वाली बहस के दौरान, सदस्य न केवल वित्तीय प्रस्तावों पर, बल्कि सरकार की समग्र नीतियों और प्रशासन के प्रदर्शन पर भी चर्चा और आलोचना कर सकते हैं।
- **राष्ट्रपति/राज्यपाल के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव (Motion of Thanks on President's/Governor's Address):** राष्ट्रपति/राज्यपाल का अभिभाषण सरकार की नीतियों और भविष्य की योजनाओं का एक खाका होता है। इस पर धन्यवाद प्रस्ताव के दौरान, सदस्य सरकार की नीतियों और प्रशासन के कामकाज की विस्तृत समीक्षा और आलोचना करते हैं।

4. समिति नियंत्रण (Committee Control):

संसदीय समितियाँ, विधायिका की "मिनी-विधायिका" के रूप में, प्रशासन पर विस्तृत और गहन नियंत्रण रखती हैं। वित्तीय समितियों के अलावा, अन्य महत्वपूर्ण समितियाँ हैं:

- **विभागीय स्थायी समितियाँ (Departmental Standing Committees):** ये समितियाँ विभिन्न मंत्रालयों/विभागों से संबंधित होती हैं और उनके बजट अनुमानों, विधेयकों और वार्षिक रिपोर्टों की जाँच करती हैं। यह मंत्रालय के कामकाज पर लगातार और विस्तृत नियंत्रण सुनिश्चित करता है।
- **सरकारी आश्वासनों पर समिति (Committee on Government Assurances):** यह समिति मंत्रियों द्वारा सदन में दिए गए आश्वासनों, वादों और प्रतिज्ञाओं के कार्यान्वयन की जाँच करती है।
- **याचिका समिति (Committee on Petitions):** यह जनता द्वारा प्रस्तुत याचिकाओं पर विचार करती है और प्रशासन के खिलाफ शिकायतों की जाँच करती है।

5. अन्य प्रकार के नियंत्रण:

- **प्रशासनिक रिपोर्टों की जाँच (Scrutiny of Administrative Reports):** प्रशासन द्वारा प्रस्तुत वार्षिक रिपोर्टों, प्रदर्शन रिपोर्टों और अन्य दस्तावेजों की विधायिका द्वारा समीक्षा की जाती है।
- **प्रश्न पूछना और स्पष्टीकरण मांगना (Interrogation and Seeking Clarification):** संसद सदस्य विभिन्न अवसरों पर सीधे मंत्रियों या संबंधित अधिकारियों से प्रश्न पूछकर और स्पष्टीकरण मांगकर नियंत्रण स्थापित करते हैं।

विधायी नियंत्रण की प्रभावशीलता की सीमाएँ:

यद्यपि विधायी नियंत्रण महत्वपूर्ण है, इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं:

- **कार्यकारी शाखा की प्रमुखता (Dominance of the Executive):** संसदीय प्रणाली में, सत्तारूढ़ दल की संसद में बहुमत होता है, जिससे सरकार के लिए विधायी नियंत्रण से बचना आसान हो जाता है।
- **विशेषज्ञता का अभाव:** सांसदों/विधायकों के पास प्रशासन के जटिल और तकनीकी पहलुओं का विस्तृत ज्ञान नहीं होता, जिससे प्रभावी निगरानी कठिन हो जाती है।
- **समय का अभाव:** विधायिका के पास बहुत से कार्य होते हैं, और लोक प्रशासन के हर पहलू पर विस्तृत चर्चा के लिए पर्याप्त समय नहीं होता।
- **राजनीतिकरण:** नियंत्रण के उपकरण अक्सर राजनीतिक स्कोर-सेटिंग या विरोध प्रदर्शन के लिए उपयोग किए जाते हैं, जिससे उनके वास्तविक उद्देश्य कमजोर पड़ जाते हैं।

प्रत्यायोजित विधान में वृद्धि: प्रत्यायोजित विधान के बढ़ते दायरे के कारण विधायिका का सीधा नियंत्रण कुछ हद तक कम हो जाता है।

प्रश्न न0 7— न्यायिक नियंत्रण द्वारा लोक प्रशासन पर नियंत्रण कैसे होता है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में 'न्यायिक नियंत्रण द्वारा लोक प्रशासन पर नियंत्रण' (Judicial Control over Public Administration) उस प्रक्रिया को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से न्यायपालिका, संविधान और कानूनों की व्याख्या करके, लोक प्रशासन (कार्यकारी शाखा के कार्यों) की वैधता, औचित्य और संवैधानिकता की जाँच करती है। यह लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) और 'कानून के शासन' (Rule of Law) के सिद्धांत को बनाए रखने के लिए एक महत्वपूर्ण तंत्र है।

न्यायपालिका यह सुनिश्चित करती है कि प्रशासन अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान और संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के दायरे में ही करे और नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन न हो।

लोक प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के विभिन्न तरीके और उपकरण निम्नलिखित हैं:

1. न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review):

यह न्यायिक नियंत्रण का सबसे शक्तिशाली और व्यापक उपकरण है। न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ है अदालतों की वह शक्ति जिसके द्वारा वे विधायिका द्वारा पारित कानूनों और कार्यपालिका द्वारा किए गए प्रशासनिक कार्यों की संवैधानिकता और

कानूनी वैधता की जाँच करती हैं। यदि कोई कानून या प्रशासनिक कार्य संविधान के प्रावधानों या किसी मूल कानून का उल्लंघन करता पाया जाता है, तो न्यायालय उसे असंवैधानिक या अवैध घोषित कर उसे रद्द (Null and Void) कर सकता है।

- **प्रशासनिक कार्यों का पुनरावलोकन:** न्यायपालिका विशेष रूप से प्रशासनिक निर्णयों, नियमों, उप-नियमों और नीतियों की जाँच करती है। इसके प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं:
 - **अधिकारिता का अभाव (Lack of Jurisdiction):** यदि कोई प्रशासनिक प्राधिकारी या अधिकारी अपनी निर्धारित शक्तियों या अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करता है।
 - **शक्ति का दुरुपयोग (Abuse of Power):** यदि कोई प्रशासनिक प्राधिकारी अपनी शक्ति का दुर्भावनापूर्ण या अनुचित उद्देश्यों के लिए उपयोग करता है।
 - **प्रक्रियात्मक अनुचितता (Procedural Impropriety):** यदि प्रशासनिक निर्णय लेने में स्थापित प्रक्रियाओं, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों (जैसे सुनवाई का अधिकार, निष्पक्षता) का पालन नहीं किया गया हो।
 - **तर्कहीनता/अनुचितता (Irrationality/Unreasonableness):** यदि प्रशासनिक निर्णय इतना अतार्किक या तर्कहीन हो कि कोई भी समझदार व्यक्ति उस निर्णय पर नहीं पहुँच सकता था (वेडनेसबरी टेस्ट के रूप में भी जाना जाता है)।
 - **संवैधानिकता का उल्लंघन (Violation of Constitutionality):** यदि प्रशासनिक कार्य संविधान के किसी प्रावधान, विशेषकर मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता हो।
 - **आनुपातिकता (Proportionality):** यदि अपनाया गया प्रशासनिक उपाय प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के अनुपातहीन हो।
 - **वैध अपेक्षा (Legitimate Expectation):** यदि किसी प्रशासनिक प्राधिकारी ने अपने पूर्व व्यवहार या घोषणाओं से किसी व्यक्ति में एक वैध अपेक्षा उत्पन्न की हो, और फिर बिना उचित कारण के उससे विचलित हो जाए।

2. रिट क्षेत्राधिकार (Writ Jurisdiction):

भारत में, सर्वोच्च न्यायालय (अनुच्छेद 32 के तहत) और उच्च न्यायालयों (अनुच्छेद 226 के तहत) के पास मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन और अन्य कानूनी अधिकारों के उल्लंघन के लिए विभिन्न प्रकार के 'रिट' (Writs) जारी करने की शक्ति है। ये रिट प्रशासन पर सीधा और प्रभावी नियंत्रण स्थापित करते हैं:

- **बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus):** यह रिट किसी ऐसे व्यक्ति को अदालत के समक्ष पेश करने का आदेश देता है जिसे अवैध रूप से हिरासत में लिया गया हो, ताकि उसकी हिरासत की वैधता की जाँच की जा सके। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण रक्षक है।
- **परमादेश (Mandamus):** यह रिट किसी सार्वजनिक अधिकारी या प्राधिकरण को उसके कानूनी कर्तव्य का पालन करने का आदेश देता है, यदि वह ऐसा करने में विफल रहता है।
- **प्रतिषेध (Prohibition):** यह रिट एक उच्च न्यायालय द्वारा निचली अदालत या न्यायाधिकरण को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाने या ऐसा कार्य करने से रोकने के लिए जारी किया जाता है जिसके लिए उसके पास शक्ति नहीं है।
- **उत्प्रेषण (Certiorari):** यह रिट एक उच्च न्यायालय द्वारा निचली अदालत या न्यायाधिकरण द्वारा दिए गए निर्णय को रद्द करने के लिए जारी किया जाता है, यदि वह निर्णय अधिकार क्षेत्र से बाहर था या कानून में कोई स्पष्ट त्रुटि थी।
- **अधिकार पृच्छा (Quo Warranto):** यह रिट किसी व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक पद धारण करने के अधिकार की वैधता पर सवाल उठाने के लिए जारी किया जाता है। यह सुनिश्चित करता है कि कोई व्यक्ति अवैध रूप से सार्वजनिक कार्यालय धारण न करे।

3. सांविधिक अपील और पुनरीक्षण (Statutory Appeals and Revisions):

कई कानूनों में प्रशासनिक निर्णयों के खिलाफ अदालतों में अपील या पुनरीक्षण का प्रावधान होता है। नागरिक या प्रभावित पक्ष सीधे अदालत में जाकर प्रशासनिक निर्णय को चुनौती दे सकते हैं। यह विशेष रूप से विशिष्ट क्षेत्रों जैसे कर, पर्यावरण, श्रम कानून आदि में देखा जाता है, जहाँ प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के निर्णयों के खिलाफ अपील की जा सकती है।

4. सरकार के विरुद्ध वाद (Suits against the Government):

नागरिक सरकार या उसके अधिकारियों के खिलाफ विभिन्न आधारों पर दीवानी (Civil) और कभी-कभी आपराधिक (Criminal) वाद भी दायर कर सकते हैं।

- **संवैदात्मक दायित्व (Contractual Liability):** यदि सरकार या उसके विभाग किसी अनुबंध का उल्लंघन करते हैं, तो पीड़ित पक्ष सरकार पर मुकदमा दायर कर सकता है।

- **अपकृत्य दायित्व (Tortious Liability):** यदि किसी सरकारी अधिकारी द्वारा अपने कर्तव्य के दौरान की गई लापरवाही या गलत कार्य के कारण किसी व्यक्ति को नुकसान होता है , तो पीड़ित पक्ष सरकार या अधिकारी पर अपकृत्य (tort) के लिए मुकदमा दायर कर सकता है (उदाहरण के लिए, पुलिस की लापरवाही से संपत्ति को नुकसान)।
- **निजी अधिकारी के विरुद्ध वाद:** व्यक्तिगत अधिकारी पर भी आपराधिक या दीवानी कार्यवाही की जा सकती है यदि उन्होंने अपने कर्तव्य के दौरान गैरकानूनी कार्य किया हो।

5. जनहित याचिका (Public Interest Litigation - PIL):

भारत में जनहित याचिका न्यायिक नियंत्रण का एक क्रांतिकारी उपकरण बन गई है। इसके माध्यम से , कोई भी व्यक्ति या संगठन जनहित से जुड़े मामलों में अदालत का दरवाजा खटखटा सकता है , भले ही वह सीधे तौर पर पीड़ित पक्ष न हो। इसके तहत अदालतें प्रशासन को समाज के कमजोर वर्गों के अधिकारों की रक्षा करने और सार्वजनिक नीतियों को प्रभावी ढंग से लागू करने का निर्देश दे सकती हैं। इसने प्रशासन को पर्यावरण संरक्षण , बाल श्रम उन्मूलन, मानवाधिकारों की सुरक्षा आदि जैसे क्षेत्रों में अधिक जवाबदेह बनाया है।

न्यायिक नियंत्रण का महत्व:

- **संविधान का संरक्षक:** न्यायपालिका संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखती है और यह सुनिश्चित करती है कि कार्यपालिका और प्रशासन संविधान की सीमाओं का उल्लंघन न करें।
- **नागरिकों के अधिकारों का रक्षक:** यह व्यक्तियों को राज्य की मनमानी और शक्ति के दुरुपयोग से बचाता है, और उनके मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है।
- **कानून के शासन को बनाए रखना:** यह सिद्धांत कि कोई भी कानून से ऊपर नहीं है (चाहे वह अधिकारी हो या आम नागरिक) को न्यायिक नियंत्रण के माध्यम से लागू किया जाता है।
- **प्रशासनिक जवाबदेही:** न्यायिक समीक्षा प्रशासन को नियमों और प्रक्रियाओं का पालन करने , निष्पक्ष और तर्कसंगत होने तथा जनता के प्रति जवाबदेह रहने के लिए बाध्य करती है।
- **अधिकारों और दायित्वों का निर्धारण:** यह सरकार और नागरिकों के अधिकारों और दायित्वों के संबंध में स्पष्टता प्रदान करता है।
- **चेक एंड बैलेंस का सिद्धांत:** यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के तहत कार्यपालिका पर न्यायपालिका का एक महत्वपूर्ण 'चेक' (अंकुश) है, जो सरकार की किसी भी शाखा द्वारा शक्ति के केंद्रीकरण को रोकता है।

न्यायिक नियंत्रण की सीमाएँ:

- **आत्म-प्रेरित हस्तक्षेप का अभाव:** न्यायालय अपने आप किसी प्रशासनिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते ; वे केवल तभी कार्य करते हैं जब कोई नागरिक या प्रभावित पक्ष उनके हस्तक्षेप की मांग करता है।
- **तकनीकी विशेषज्ञता का अभाव:** न्यायालयों में प्रशासनिक कार्यों के सभी तकनीकी और जटिल पहलुओं की विशेषज्ञता नहीं होती, जिससे कभी-कभी उनके लिए उचित निर्णय लेना कठिन हो जाता है।
- **समय लेने वाली प्रक्रिया:** न्यायिक प्रक्रिया अक्सर धीमी और महंगी होती है, जिससे सभी नागरिकों के लिए न्याय तक पहुंचना मुश्किल हो सकता है।
- **नीतिगत मामलों में हस्तक्षेप की सीमा:** न्यायालय आमतौर पर सरकार के नीतिगत निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करते , जब तक कि वे कानून या संविधान का स्पष्ट उल्लंघन न हों।

न्यायिक सक्रियता की आलोचना: कभी-कभी न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह न्यायपालिका को विधायिका या कार्यपालिका के क्षेत्र में अतिक्रमण करने की ओर ले जाती है , जिससे शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत कमजोर होता है।

प्रश्न न0 8— कार्यपालिका कैसे लोक प्रशासन पर नियंत्रण करती है?

उत्तर— राजनीतिक विज्ञान में , 'कार्यपालिका द्वारा लोक प्रशासन पर नियंत्रण ' (Executive Control over Public Administration) उस प्रक्रिया को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से कार्यपालिका शाखा (Executive Branch), जिसमें राष्ट्रपति/प्रधानमंत्री, कैबिनेट और विभिन्न मंत्रालयों के राजनीतिक प्रमुख शामिल होते हैं , लोक प्रशासन (अर्थात् नौकरशाही और सरकारी विभागों) के कामकाज का पर्यवेक्षण , निर्देशन और विनियमन करती है। यह नियंत्रण लोकतांत्रिक प्रणाली में अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह सुनिश्चित करता है कि निर्वाचित सरकार की नीतियाँ और कार्यक्रम प्रभावी ढंग से लागू हों, और प्रशासन अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम हो।

कार्यपालिका का लोक प्रशासन पर नियंत्रण इसलिए आवश्यक है क्योंकि प्रशासन, यद्यपि निष्पक्ष और तटस्थ होने की अपेक्षा की जाती है, अंततः जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों (कार्यपालिका) के निर्देशों पर कार्य करता है।

लोक प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण के विभिन्न तरीके और उपकरण निम्नलिखित हैं:

1. राजनीतिक नेतृत्व और नीति-निर्धारण (Political Leadership and Policy Formulation):

- **नीति-निर्धारण (Policy Formulation):** कार्यपालिका, विशेषकर कैबिनेट, सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का निर्धारण करती है। ये नीतियां लोक प्रशासन के लिए दिशा-निर्देश का काम करती हैं। नौकरशाही को इन नीतियों को लागू करने के लिए अपेक्षित कानूनों, नियमों और प्रक्रियाओं का मसौदा तैयार करना होता है।
- **नेतृत्व और दिशा-निर्देश (Leadership and Direction):** मंत्री अपने-अपने विभागों के राजनीतिक प्रमुख होते हैं। वे विभाग के अधिकारियों को दिशा-निर्देश देते हैं, लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि विभाग सरकार की व्यापक नीतियों के अनुरूप कार्य करे। वे नौकरशाहों को स्पष्ट निर्देश प्रदान करते हैं कि क्या किया जाना है और कैसे किया जाना है।
- **प्रशासनिक निर्णयों की समीक्षा (Review of Administrative Decisions):** मंत्री अपने विभाग के महत्वपूर्ण प्रशासनिक निर्णयों की समीक्षा करते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें संशोधन या परिवर्तन करते हैं।

2. कार्मिक प्रबंधन (Personnel Management):

- **भर्ती, पदोन्नति और स्थानांतरण (Recruitment, Promotion, and Transfer):** यद्यपि लोक सेवा आयोग जैसी स्वतंत्र संस्थाएं भर्ती करती हैं, लेकिन वरिष्ठ प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति, पदोन्नति और स्थानांतरण में कार्यपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वे प्रमुख प्रशासनिक पदों पर अपनी पसंद के अधिकारियों को नियुक्त कर सकते हैं जो उनकी नीतियों के प्रति अधिक प्रतिबद्ध हों।
- **अनुशासनिक कार्रवाई (Disciplinary Action):** कार्यपालिका के पास अधिकारियों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई करने की शक्ति होती है यदि वे नियमों का उल्लंघन करते हैं या अपने कर्तव्यों का पालन करने में विफल रहते हैं।
- **सेवा शर्तें (Service Conditions):** कार्यपालिका सिविल सेवकों की सेवा शर्तों, वेतन और भत्तों का निर्धारण करती है, जिससे उनके व्यवहार और प्रदर्शन को प्रभावित किया जा सकता है।

3. वित्तीय नियंत्रण (Financial Control):

- **बजट का निर्माण और अनुमोदन (Budget Formulation and Approval):** कार्यपालिका (विशेषकर वित्त मंत्रालय के माध्यम से) वार्षिक बजट तैयार करती है, जिसमें विभिन्न विभागों के लिए वित्तीय आवंटन निर्धारित किया जाता है। बजट का अनुमोदन विधायिका द्वारा किया जाता है, लेकिन इसकी तैयारी और प्रारंभिक नियंत्रण कार्यपालिका के हाथ में होता है।
- **वित्तीय आवंटन और व्यय नियंत्रण (Financial Allocation and Expenditure Control):** कार्यपालिका विभागों को धन का आवंटन करती है और यह सुनिश्चित करने के लिए नियमों और प्रक्रियाओं को लागू करती है कि धन का उपयोग अनुमोदित उद्देश्यों के लिए और कुशलता से किया जाए। वित्त मंत्रालय या वित्त विभाग प्रशासनिक व्यय पर कड़ा नियंत्रण रखते हैं।
- **लेखा परीक्षा और रिपोर्ट (Audit and Reporting):** यद्यपि नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (CAG) स्वतंत्र है, उसकी रिपोर्ट कार्यपालिका को प्रशासनिक अनियमितताओं और वित्तीय कुप्रबंधन को नियंत्रित करने का आधार प्रदान करती है। कार्यपालिका इन रिपोर्टों पर कार्रवाई करती है।

4. पर्यवेक्षण और समन्वय (Supervision and Coordination):

- **प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण (Direct Supervision):** मंत्री और उनके अधीन वरिष्ठ अधिकारी (जैसे सचिव) नियमित बैठकों, रिपोर्टों और निरीक्षणों के माध्यम से विभाग के कामकाज का प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण करते हैं।
- **समन्वय (Coordination):** कैबिनेट और कैबिनेट समितियाँ विभिन्न मंत्रालयों और विभागों के बीच नीतियों और कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करती हैं। यह सुनिश्चित करता है कि सरकार की नीतियाँ एक सामंजस्यपूर्ण तरीके से लागू हों और अलग-अलग विभागों के बीच टकराव न हो। कैबिनेट सचिव और प्रधानमंत्री कार्यालय (PMO) समन्वय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
- **रिपोर्टिंग प्रणाली (Reporting System):** प्रशासन को नियमित रूप से कार्यपालिका को अपनी प्रगति, चुनौतियों और प्रदर्शन पर रिपोर्ट देनी होती है। यह रिपोर्टिंग प्रणाली कार्यपालिका को विभागों के कामकाज पर नज़र रखने में मदद करती है।

5. प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms):

- **पुनर्गठन और पुनर्गठन (Reorganization and Restructuring):** कार्यपालिका आवश्यकतानुसार सरकारी विभागों और एजेंसियों की संरचना, कार्यप्रणाली और प्रक्रियाओं को पुनर्गठित और पुनर्गठित कर सकती है ताकि दक्षता और प्रभावशीलता में सुधार हो सके।

- **कार्यप्रणाली में परिवर्तन (Changes in Working Methods):** कार्यपालिका प्रशासन के काम करने के तरीकों में सुधार लाने के लिए नए नियम, प्रक्रियाएं या प्रौद्योगिकी को लागू कर सकती है (जैसे ई-गवर्नेंस)।
- **प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण (Training and Capacity Building):** कार्यपालिका प्रशासकों के प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण कार्यक्रमों को बढ़ावा देती है ताकि उनके कौशल और विशेषज्ञता में सुधार हो सके।

6. अध्यादेश जारी करना (Ordinance Issuing Power):

जब संसद सत्र में न हो , तो कार्यपालिका (राष्ट्रपति/राज्यपाल) के पास अध्यादेश जारी करने की शक्ति होती है , जिसका कानून के समान प्रभाव होता है। यह कार्यपालिका को आपातकालीन स्थितियों में या तात्कालिक आवश्यकता होने पर प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए तुरंत कानूनी आधार प्रदान करने की अनुमति देता है।

7. प्रधानमंत्री/राष्ट्रपति का कार्यालय (Prime Minister's/President's Office - PMO/PRO):

- प्रधानमंत्री कार्यालय (भारत के संदर्भ में PMO) सरकार के सभी विभागों और मंत्रालयों पर व्यापक नियंत्रण रखता है। यह नीतिगत निर्णयों के समन्वय , महत्वपूर्ण नियुक्तियों को प्रभावित करने और विभिन्न मंत्रालयों के प्रदर्शन की निगरानी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह प्रधानमंत्री को सीधे प्रशासन पर नियंत्रण रखने का एक शक्तिशाली साधन प्रदान करता है।

कार्यपालिका नियंत्रण की प्रभावशीलता की सीमाएँ:

यद्यपि कार्यपालिका का प्रशासन पर व्यापक नियंत्रण होता है, इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं:

- **नौकरशाही की विशेषज्ञता (Bureaucratic Expertise):** नौकरशाही के पास अक्सर नीतिगत मामलों की गहन जानकारी और तकनीकी विशेषज्ञता होती है , जो मंत्रियों के पास नहीं होती। इससे नौकरशाही कुछ हद तक प्रभावी नियंत्रण से बच सकती है या नीतियों को अपनी तरह से लागू कर सकती है।
- **प्रशासनिक जटिलता (Administrative Complexity):** आधुनिक प्रशासन की विशालता और जटिलता के कारण , कार्यपालिका के लिए हर विभाग के हर पहलू पर विस्तृत नियंत्रण रखना मुश्किल होता है।
- **राजनीतिक अस्थिरता और अल्पकालिक कार्यकाल (Political Instability and Short Tenures):** मंत्रियों के लगातार बदलने या उनका कार्यकाल छोटा होने से वे प्रशासन पर गहरा नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम नहीं हो पाते , और नौकरशाही की निरंतरता हावी हो जाती है।
- **नौकरशाही का प्रतिरोध (Bureaucratic Resistance):** नौकरशाही अक्सर अपने निहित स्वार्थों या स्थापित प्रक्रियाओं के कारण राजनीतिक नेतृत्व द्वारा लाए गए परिवर्तनों का प्रतिरोध कर सकती है।

राजनीतिकरण की संभावना (Potential for Politicization): अत्यधिक कार्यपालिकीय नियंत्रण , खासकर राजनीतिक नियुक्तियों के माध्यम से , नौकरशाही के राजनीतिकरण का कारण बन सकता है , जिससे उसकी निष्पक्षता और तटस्थता प्रभावित होती है।

B.A.LL.B.-8th Sem. Paper-II Law of Evidence

प्रश्न न० 1— 'रेस-जेस्टे' से आप क्या समझते हैं? उदाहरणों की सहायता से समझाइए।

उत्तर—रेस-जेस्टे का सिद्धान्त (Doctrine of Res-gestae)— धारा 6 का आधार यह है कि कोई तथ्य विवाद्यक न होते हुये भी किसी कार्य का भाग होने के कारण निर्णय के लिये सुसंगत हो सकता है लेकिन इस धारा के लागू होने के लिये यह आवश्यक है कि वे एक ही संव्यवहार के भाग हों। भारतीय साक्ष्य विधि की धारा 6 में यही उल्लेख किया गया है कि वे तथ्य जो विवाद्यक तथ्य से इस प्रकार संयुक्त हैं कि वे एक ही संव्यवहार के भाग हैं, सुसंगत तथ्य हैं।¹⁸ इसी को अंग्रेजी विधि में रेस-जेस्टे (Res-gestae) का नाम दिया गया है। यह शब्द लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका तात्पर्य जो काम किया गया है, से है। इसके अंग्रेजी अनुवाद का अर्थ, ऐसे कथन या कार्य जो किसी संव्यवहार के साथ हुए हैं, हे रेस- है।

बुडरोफ (Woodroffe) के अनुसार— "रेस जेस्टे पद को उन परिस्थितियों के रूप में माना जा सकता है, जो किसी बाद से सम्बन्धित किसी कार्य की स्वचालित या अनियमित घटनाएँ हैं और जो उम है, समय ग्राहा होती हैं, जब वे ऐसे कार्य का विश्लेषण करती हैं।"

मोटे रूप में रेस-जेस्टे का आशय वह मुख्य तथ्य की आनुषंगिक बात (Matter incidentals to the main fact) और उसे स्पष्ट करने वाली बात से है, जिसमें कार्य और शब्द भी शामिल हैं, जो उनमें प्रकार से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते हैं कि वे एक ही संव्यवहार के भाग होते हैं और बिना ज्ञान मुख्य तथ्य को ठीक से समझा नहीं जा सकता है।

तमस

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 6 निम्नलिखित है—

एक ही संव्यवहार के भाग होने वाले तथ्यों की सुसंगति— जो तथ्य विवाद्यक न होते हुये भी विवाद्यक तथ्यों से इस प्रकार संसक्त कि वे एक ही संव्यवहार के भाग हैं वे तथ्य सुसंगत हैं चाहे वे उसी में समय और स्थान पर विभिन्न समयों और स्थानों पर घटित हुये हों।

एक ही संव्यवहार के भाग होने वाले तथ्य (Facts forming part of the same transaction)—स्टीफेन ने 'संव्यवहार' के बारे में कहा है कि "एक संव्यवहार उन तथ्यों का एक समूह है, जो आपस में इस प्रकार सम्बन्धित होता है कि उन्हें केवल एक विधिक नाम से, जैसे संविदा, अपराध, गलती या जाँच का कोई दूसरा विषय जो विवाद्य हो, निद्रिष्ट किया जा सकता है।"

एक ही संव्यवहार का भाग होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी तथ्य एक ही समय या एक ही स्थान पर हुए हों। अलग-अलग समय और स्थान पर होने वाले तथ्य भी एक ही संव्यवहार के भाग हो सकते हैं। जैसे— यदि यह प्रश्नास्पद हो कि वाराणसी के व्यापारी 'क' और कलकत्ता के व्यापारी 'ख' के बीच कोई संविदा हुई थी या नहीं तो विभिन्न समय पर वाराणसी तथा कलकत्ता के व्यापारी के बीच लिखे गये पत्र संविदा पूर्ण होने या न होने के साक्ष्य के तौर पर पेश किये जा सकते हैं।

क्योंकि वे एक ही संव्यवहार के भाग होंगे, क्योंकि संविदा एक संव्यवहार था, जिसके वे पत्र भाग थे। **आर. एम. मालकानी बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए. आई. आर. 1973, एस. सी. 157 के वाद में** उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यदि किसी अपराध के सम्बन्ध में कोई बातचीत चल रही है और ऐसी बात आपराधिक संव्यवहार का एक भाग होने के नाते सुसंगत है और ऐसी बात टेप कर ली जाती है तो इसे रेस-जेस्टे (Res-gestae) कहेंगे।

राधेश्याम बनाम उ. प्र. राज्य, 1993 क्रि. लॉ ज. 3709 के मामले में, जहाँ मृतक पति अपनी ड्यूटी पर जा रहा था तो अपनी पत्नी से कहा कि वह लंच के लिए लौटेगा किन्तु वह गोलियों से ऑफिस में ही मारा गया। न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया कि उपरोक्त कथन धारा 6 के अधीन एक ही संव्यवहार का भाग होने के कारण ग्राह्य है।

रेस-जेस्टे सिद्धान्त की विसंगतियाँ (Ambiguities of Doctrine of Res-gestae) — प्रोफेसर विगमोर (Prof-Wigmore) का कहना है, रेस-जेस्टे शब्द बहुत दिनों से बिल्कुल निरर्थक ही नहीं बल्कि हानिकारक भी हो गया है। उनका यह विचार सही भी है। कारण यह कि जिन तथ्यों के बारे में रेस-जेस्टे शब्द का प्रयोग किया जाता है वे साक्ष्य के अन्य नियमों के अनुसार भी सुसंगत होते हैं और उन नियमों को अच्छी तरह प्रयोग में लाया जाता है यतः रेस जेस्टे शब्द बिल्कुल निरर्थक हो गया है और उसका कोई उपयोग आंग्ल साक्ष्य विधि के अन्तर्गत नहीं रह गया है।

श्री स्टीफेन (Stephen) महोदय, जिन्होंने भारतीय साक्ष्य अधिनियम का प्रारूप तैयार किया, इंग्लिश जेस्टे शब्द की इस कमजोरी से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने अधिनियम में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथा आवश्यक तत्वों का समावेश अधिनियम की कुछ धाराओं में कर दिया है।

प्रश्न न० 2— सुसंगत तथ्यों से आप क्या समझते हैं? क्या ग्राहाता और सुसंगतता में कोई अन्तर है?

उत्तर— सुसंगतता और ग्राहाता (Relevancy and Admissibility)— सुसंगतता और ग्राह्यता को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है—

सुसंगतता (Relevancy)— सुसंगत शब्द से अभिप्रेत है कि कोई भी दो तथ्य, जिनके सम्बन्ध में इसका प्रयोग किया गया है, एक दूसरे से इस तरह सम्बन्धित है कि घटना के सामान्य अनुक्रम के — अनुसार या तो अकेले या अन्य तथ्यों के संसर्ग में दूसरे के भूत, वर्तमान या भविष्य के अस्तित्व या अनस्तित्व को साबित करते हों या अधिसम्भाव्य बनाते हों।

सुसंगत तथ्य की परिभाषा अधिनियम में नहीं दी गई है। मात्र इतना ही बताया गया है कि सुसंगत सध्य वही होगा, जो सुसंगति के अध्याय में वर्णित है। अतः 5 से 55 के अन्तर्गत जो तथ्य सुसंगत बताये गये हैं, वे तथ्य ही सुसंगत तथ्य होंगे।

हालांकि धारा 5 से 55 में वर्णित सुसंगत तथ्य ग्राह्य होते हैं, किन्तु यह मानना कि सभी सुसंगत तथ्य सुग्राह्य होते हैं, गलत है। क्योंकि पुलिस ऑफीसर के समक्ष दी गई स्वीकृति सुसंगत तो होती है। किन्तु सुग्राह्य नहीं होती। अतः सुसंगति का अर्थ ग्राह्यता से नहीं लगाया जा सकता। सुसंगत तथ्य वे तथ्य होते हैं, जो दूसरे सुसंगत तथ्य या विवाद्यक तथ्यों से निकटतम जुड़े हों।

उदाहरण— 'ख' द्वारा उसे अधिकथित प्रीनीट के आधार पर जो उसने 'क' के हक में निष्पादित किया था 'क' 'ख' के विरुद्ध दावा करता है। 'ख' उस प्रीनीट के निष्पादन से इंकार करता है। इसमें निम्नलिखित तथ्य सुसंगत होंगे—

1. यह कि उस समय जबकि प्रीनीट का निष्पादन अधिकथित है, 'ख' को की आवश्यकता थी और उसके पास रुपये नहीं थे।

2. यह कि प्रीनीट के अभिकथित निष्पादन के थोड़ी देर के पश्चात् 'ख' ने पुराना कर्ज अदा किया था।

3. यह कि प्रीनीट के अभिकथित निष्पादन के थोड़ी देर पश्चात् 'ख' ने अपने पड़ोसी से कहा था कि उसने 'क' से रुपया उधार लिया था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सुसंगत तथ्य विवाद की विषय-वस्तु नहीं होती है बल्कि ऐसा तथ्य होता है जिसके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलती है कि विवाद्यक तथ्य सही है या गलत।

ग्राह्यता (Admissibility)— ग्राह्यता से तात्पर्य साध्य के रूप में स्वीकार्यता से है, जोकि विधि का प्रश्न है और जिसको कि न्यायालय निर्धारित करता है।

तथ्यों की सुसंगति का आधार तर्कशास्त्र पर आधारित है जबकि ग्राह्यता विधि पर आधारित है। समस्त सुसंगत तथ्य आवश्यक रूप में साक्ष्य में ग्राह्य नहीं हैं। इसके विपरीत वे तथ्य जो किसी प्रकार भी सुसंगत न हो, तो भी उनका न्यायालय साक्ष्य में ग्रहण कर सकता है।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 136 के अन्तर्गत ये दोनों पद सुसंगति और ग्राह्यता पृथक्तया और सुभिन्नता या प्रयोग किये गये हैं।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 136 के अनुसार साक्ष्य अधिनियम की धारा 136 इस प्रकार है—

न्यायालय साक्ष्य की ग्राह्यता के बारे में विनिश्चय करेगा— जबकि दोनों में से कोई पक्षकार किसी तथ्य का साक्ष्य देने की प्रस्थापना करता है, तब न्यायाधीश ऐसे पक्षकार से पूछ सकेंगे कि अभिकथित तथ्य, यदि वह साबित हो जाये तो किस प्रकार सुसंगत होगा, और यदि न्यायाधीश यह समझता है कि तथ्य यदि साबित हो गया तो सुसंगत होगा, तो वह उस साक्ष्य को ग्रहण करेगा, अन्यथा नहीं।

सुसंगति और ग्राह्यता सहव्यापक (Co-extensive) नहीं— 'सुसंगति' और 'ग्राह्यता' के विषय में सही कथन यह होगा कि ये दोनों पद न तो पर्यायवाची हैं और न सह-विस्तारी और न एक दूसरे में सम्मिलित ही हैं।

इस सम्बन्ध में दो प्रतिपादनाएँ हैं— पहली प्रतिपादना अभिकथित करती है कि सभी सुसंगत तथ्य आवश्यक रूप में ग्राह्य नहीं हैं। इसको साबित करने के लिए हम भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 126 निद्रिष्ट कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत अधिवक्ता से कक्षीकार द्वारा की गई संस्वीकृति, यद्यपि वह अत्यधिक सुसंगत है, तथापि वह न्यायालय में ग्राह्य नहीं है।

दूसरी प्रतिपादना अधिकथित करती है कि समस्त तथ्य जो ग्राह्य हैं उनका सुसंगत होना आवश्यक नहीं है। धारा 146 से 155 तक उन प्रश्नों के प्रारूप के बारे में अभिकथित करती है जो कि साक्षी से प्रतिपरीक्षण में पूछे जा सकते हैं। वे तथ्य यद्यपि किसी भी प्रकार सुसंगत न भी हों और उनका सम्बन्ध विवाद्यक तथ्य से उस प्रकार न भी हो, जैसा कि धारा 6 से 55 तक में दिखाया गया है, तथापि उक्त धाराओं के अन्तर्गत वे ग्राह्य घोषित किये गये हैं।

उदाहरणार्थ— 'क', 'ख' के विरुद्ध प्रीनीट के आधार पर एक दावा दायर करता है। 'स' एक गवाह 'क' द्वारा उस ऋण को साबित करने के लिए पेश किया जाता है। 'ख' उससे प्रश्न पूछ सकता है कि वह कितनी बार जेल गया और इस प्रकार उसकी विश्वसनीयता पर अधिक्षेप कर सकता है। ऐसे प्रश्नों का ऋण को साबित या नासाबित करने से कोई वास्ता नहीं है तथापि वे न्यायालय के समक्ष ग्राह्य हैं। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ अपवादित दशाओं को छोड़कर सभी सुसंगत तथ्य न्यायालय में ग्राह्य होते हैं।

सुसंगतता और ग्राह्यता में अन्तर (Difference between Relevancy and Admissibility)— सुसंगतता एवं ग्राह्यता में। कुछ महत्वपूर्ण अन्तर निम्नलिखित हैं—

1. किसी तथ्य की सुसंगतता के लिए उसे ग्राह्य होना आवश्यक नहीं है जबकि ग्राह्यता के लिए उस तथ्य का सुसंगत होना आवश्यक है।

2. सभी सुसंगत तथ्य आवश्यक रूप से ग्राह्य नहीं होते हैं जबकि सभी ग्राह्य तथ्य सुसंगत होते हैं।

3. सुसंगतता एक जाति है जबकि ग्राह्यता उसकी उपजाति है।

4. सुसंगति के सम्बन्ध में वर्णन साक्ष्य अधिनियम की धारा 5—55 में किया गया है जबकि धारा 136 के अन्तर्गत साक्ष्य की ग्राह्यता का विनिश्चय न्यायालय द्वारा किया जाता है।

5. सुसंगतता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है जबकि ग्राह्यता का क्षेत्र सीमित होता है।

प्रश्न न० 3— संस्वीकृति से आप क्या समझते हैं? संस्वीकृति और स्वीकृति में अन्तर बताइए। पुलिस ऑफिसर को या पुलिस अभिरक्षा में की गयी संस्वीकृति आपराधिक मामलों में ग्राह्य है या नहीं। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—संस्वीकृति (Confession)— संस्वीकृति, स्वीकृति का ही एक प्रकार होती है अर्थात् सभी संस्वीकृतियाँ स्वीकृतियाँ ही होती हैं। कोई स्वीकृति जब दीवानी मामलों में की जाती है तो स्वीकृति कहलाती है और यदि ऐसी स्वीकृति आपराधिक मामलों में की जाती है तो संस्वीकृति कहलाती है। संस्वीकृति द्वारा अभियुक्त अपने द्वारा किये गये अपराध को स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में संस्वीकृति इकबाल—ए—जुर्म है।

संस्वीकृति की परिभाषा— भारतीय साक्ष्य अधिनियम में संस्वीकृति को कहीं भी परिभाषित नहीं किया गया फिर भी संस्वीकृति की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

स्टीफेन के अनुसार—संस्वीकृति ऐसी स्वीकृति है जो वह व्यक्ति करता है जिस पर किसी अपराध का आरोप है और ऐसे कथन से या तो स्पष्ट होता है या अनुमान निकलता है कि उसने अपराध किया है।

प्रिवी कौंसिल के अनुसार— प्रिवी कौंसिल ने **पाकला नारायन v. इम्परर, AIR 1939, PC** के मामले में यह धारित किया कि संस्वीकृति ऐसी हो जिसमें या तो अपराध को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया हो या लगभग अपराध से सम्बन्ध रखने वाले सभी तथ्यों को स्वीकार कर लिया गया हो। अभियुक्त द्वारा स्वीकार किया गया कोई ऐसा तथ्य जो अभियुक्त को निश्चायक रूप से अपराधी सिद्ध करता है, संस्वीकृत नहीं हो सकता। उच्चतम न्यायालय के अनुसार पाकला नारायन के मामले में दी गई परिभाषा को सर्वोच्च

न्यायालय ने पलविन्दर कौर अ. स्टेट ऑफ पंजाब, AIR 1952, SC के मामले में अनुसरण किया है। **साहू .स्टेट ऑफ यू.पी., AIR 1966, SC** के मामले में बताया गया है कि जब धारा 17 में वर्णित स्वीकृति दीवानी मामलों में की जाती है तो उसे केवल स्वीकृति कहते हैं, परन्तु जब ऐसी स्वीकृति किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की जाती है जिस पर किसी अपराध का आरोप है तो उसे संस्वीकृति कहा जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्वीकृति ऐसी स्वीकृति को कहा जाता है जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई जिस पर किसी अपराध का आरोप है और जो किसी विवादक या सुसंगत तथ्य के बारे में ऐसा अनुमान इंगित करती है कि अभियुक्त ने अपराध किया है।

संस्वीकृति के आवश्यक तत्व— कोई कथन तभी संस्वीकृति कहा जाएगा जब वह कथन—

- (1) अभियुक्त व्यक्ति द्वारा किया गया हो,
- (2) मजिस्ट्रेट के समक्ष किया गया हो,
- (3) स्वतंत्र रूप से और स्वेच्छा से किया गया हो, और (4) अभियुक्त ने अपराध स्वीकार कर लिया हो।

संस्वीकृति के प्रकार— संस्वीकृति निम्नलिखित प्रकार की होती है—

(1) न्यायिक संस्वीकृति (Judicial Confession)— जो संस्वीकृति मजिस्ट्रेट के समक्ष या न्यायिक कार्यवाही के दौरान न्यायालय में की जाती है, उसे संस्वीकृति कहते हैं। ऐसी संस्वीकृति में अभियुक्त अपने अपराध को स्वीकार करता है। संस्वीकृति के आधार पर उसे दोषसिद्ध किया जा सकता है।

(2) न्यायिकेतर संस्वीकृति (Extra-judicial Confession)— जो संस्वीकृति न्यायालय के बाहर की जाती है, उसे न्यायिकेतर संस्वीकृति कहा जाता है। ऐसी संस्वीकृति मजिस्ट्रेट के समक्ष नहीं की जाती। न्यायिकेतर संस्वीकृति का स्वेच्छिक होना आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि ऐसी संस्वीकृति धमकी, उत्प्रेरणा और प्रलोभन से न प्राप्त की गई हो।

अग्राह्य या विसंगत संस्वीकृति—निम्नलिखित परिस्थितियों में की गई संस्वीकृति अग्राह्य या विसंगत होती है—

(1) उत्प्रेरणा (प्रलोभन), धमकी या वचन द्वारा प्राप्त की गई संस्वीकृति (धारा 24)—कभी—कभी अभियुक्त को लालच देकर, डराकर, धमकाकर या वायदा करके संस्वीकृति प्राप्त की जाती है ऐसी संस्वीकृति साक्ष्य में ग्राह्य नहीं होती है। ऐसा प्रलोभन, धमकी अथवा वायदा चाहे अभिव्यक्त हो या विवक्षित, प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, संस्वीकृति को साक्ष्य में अग्राह्य बना देता है।

महावीर विस्वास अ. स्टेट ऑफ बेस्ट बंगाल, 1995, SCC उक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णीत किया कि संस्वीकृति पर विश्वास करने के पूर्व यह स्थापित हो जाना चाहिए कि संस्वीकृति स्वेच्छिक थी इसे उत्प्रेरणा या धमकी आदि के द्वारा प्राप्त नहीं किया गया था।

(2) पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति (धारा 25)— साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के के विरुद्ध साबित न की जाएगी।

इस धारा के अन्तर्गत पुलिस ऑफिसर के सामने की गई संस्वीकृति ग्राह्य नहीं है। अतएव पुलिस ऑफिसर के सामने दिया वक्तव्य साक्ष्य के रूप में अग्राह्य होता है। पुलिस अभियुक्त से अपराध के विषय में सूचना प्राप्त करने के लिए मारपीट तथा अन्य निद्रयतापूर्ण व्यवहार करती है। इन्हीं को रोक के उद्देश्य से भारतीय साक्ष्य अधिनियम में धारा 25 और 26 की रचना की गई है।

(3) पुलिस की अभिरक्षा में की गई संस्वीकृति (धारा 26) भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 26 के अनुसार – “कोई भी संस्वीकृति जो किसी व्यक्ति ने की हो जब वह पुलिस ऑफिस की अभिरक्षा में हो, ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी, तब तक कि वह मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति में न की गई हो।”

चूँकि पुलिस शारीरिक यंत्रणा देकर, मारपीट कर संस्वीकृति कराने के लिए बदनाम है इसलिए धारा 26 को अधिनियमित किया गया है। धारा 26 कहती है कि ऐसी संस्वीकृति अभियुक्त के विरुद्ध साबित नहीं की जाएगी जो संस्वीकृत अभियुक्त द्वारा—

(1) पुलिस अभिरक्षा में की गई है,

(2) मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति में नहीं की गई है।

इस प्रकार धारा 24 के अन्तर्गत उत्प्रेरणा (प्रलोभन), धमकी या वचन द्वारा प्राप्त की गयी संस्वीकृति को धारा 25 पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति को तथा धारा 26 पुलिस अभिरक्षा में की गयी संस्वीकृति को अग्राह्य घोषित करती है।

ग्राह्य या सुसंगत संस्वीकृति (Admissible or Relevant Confession)—निम्नलिखित परिस्थितियों में की गई संस्वीकृति ग्राह्य या सुसंगत होती है। ऐसी संस्वीकृति के आधार पर अभियुक्त को दोषसिद्ध किया जा सकता है—

(1) पुलिस अधिकारी के समक्ष न की गई संस्वीकृति— धारा 25 के अधीन वही संस्वीकृति अभियुक्त के विरुद्ध साबित नहीं की जा सकती है जो पुलिस के सम्मुख की गई है।

परन्तु यदि पुलिस के सम्मुख नहीं की गई है तो संस्वीकृति सुसंगत होगी जैसा कि **सीताराम . स्टेट ऑफ यू.पी., AIR 1966, SCC के मामले में** अभियुक्त ने मृतक के शव के पास पुलिस के नाम एक पत्र लिखकर अपने द्वारा किए गए अपराध को स्वीकार किया था। निर्णीत हुआ कि ऐसी संस्वीकृति साक्ष्य में ग्राह्य थी क्योंकि अभियुक्त द्वारा ऐसा पत्र जब और जहाँ लिखा गया एवं रखा गया वहाँ पुलिस का अता-पता नहीं था।

(2) विभागीय कार्यवाहियों में पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति— उच्चतम न्यायालय ने **कमिश्नर ऑफ पुलिस देलही अ. नरेन्द्र सिंह, AIR 2006, SC के मामले में** अभिनिर्धारित किया है कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 द्वारा संस्वीकृति की ग्राह्यता पर लगाई गई रोक विभागीय कार्यवाहियों में लागू नहीं होती है अर्थात् अपराधी द्वारा पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति विभागीय कार्यवाही में ग्राह्य है।

अतः यदि संस्वीकृति मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति में की गई है तो पुलिस अभिरक्षा में की गई संस्वीकृति भी ग्राह्य होती है। धारा 26 उस समय लागू होती है जब कोई व्यक्ति पुलिस अभिरक्षा में होता है किसी अन्य व्यक्ति से बात करते समय संस्वीकृति कर लेता है। जैसा कि **क्वीन . सगीन, AIR 1948, AII के मामले में** अभियुक्त ने पुलिस हिरासत के दौरान किसी अन्य व्यक्ति से बातें करते समय अपने अपराध को स्वीकार कर लिया था, जिसे एक सिपाही ने सुन लिया था, ऐसी संस्वीकृति को पुलिस अभिरक्षा में की गई संस्वीकृति माना गया और साक्ष्य में विसंगत माना गया।

धारा 25 एवं धारा 26 के अपवाद—धारा 25 एवं 26 के निम्नलिखित अपवाद हैं—

(i) मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति—धारा 26 यह एक अपवाद प्रस्तुत करती है कि पुलिस अभिरक्षा में की गई संस्वीकृति यदि मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति में की गई है तो ऐसी संस्वीकृति अभियुक्त के विरुद्ध साबित की जा सकती है। मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति का तात्पर्य मजिस्ट्रेट का उसी समय और उसी कमरे में होना जिस समय और जिस कमरे में अभियुक्त ने संस्वीकृति की है, होता है।

यू. पी. स्टेट . सिंधारा सिंह, 1964, SC के मामले में अभिनिर्धारित किया गया है कि मजिस्ट्रेट की साक्षात् उपस्थिति में की गई संस्वीकृति तभी ग्राह्य होती है जब वह द. प्र. स. की धारा 164 में वर्णित ढंग से की जाती है।

(ii) पुलिस से की गई संस्वीकृति के अनुसरण में तथ्यों के पता चलने पर (धारा 27)—धारा 27 के अनुसार जब किसी तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, जो पुलिस ऑफिसर की अभिरक्षा में हो, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चला है, तब ऐसी जानकारी में से, उतनी चाहे वह संस्वीकृति कोटि में आती हो या नहीं, जितनी तद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया सम्बन्धित है, साबित की जा सकेगी।”

इस प्रकार यदि संस्वीकृति करने वाले अभियुक्त की सूचना के आधार पर कुछ तथ्य या वस्तुएँ पाई जाती हैं तो अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य में उसे सूचना का केवल उतना अंश साबित किया जाएगा जितना अभियुक्त द्वारा दी गई सूचना से प्राप्त तथ्यों से सम्बन्धित है।

धारा 27 की अपेक्षित शर्तें —

(i) किसी अपराध के अभियुक्त द्वारा सम्बन्धित अपराध के बारे में कोई सूचना दी गई हो,

(ii) ऐसी सूचना से किसी तथ्य का पता चला हो,

(iii) ऐसी सूचना के आधार पर कुछ चीजें, जैसे—हत्या में प्रयुक्त हथियार, मृतक का कोई जूता आदि बरामद हुआ हो,

(iv) अभियुक्त ने ऐसी संस्वीकृति पुलिस अभिरक्षा में दी हो,

(v) ऐसी सूचना का सम्बन्ध खोजे गए तथ्य से स्पष्ट रूप से होना चाहिए,

(vi) सूचना का मात्र वह अंश अभियुक्त के विरुद्ध साबित किया जाएगा। जितना अंश पाए गए तथ्यों से सम्बन्धित है, जैसे हत्या में प्रयुक्त औजार तथा मृतक द्वारा पहने गए कपड़े आदि।

सामान्यतः धारा 27 तब लागू होती है जब पुलिस हिरासत में होते हुए कोई व्यक्ति किसी स्थान से कोई छिपी हुई वस्तु निकालता है। उदाहरणार्थ— शव, हथियार, आभूषण आदि जो उसी अपराध से सम्बन्धित है जिसका अभियुक्त पर आरोप है। **पुलुकुरी कोटैय्या अ. इम्परर, AIR 1947, PC के मामले में** प्रिवी काउंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त के कथन के केवल उतने भाग की धारा 27 के तहत साबित किया जा सकता है, जो स्पष्टतया बरामद तथ्य से सम्बन्धित हो, कथन के शेष भाग को साबित नहीं किया जा सकता है।

स्टेट ऑफ यू. पी. अ. देवमन उपाध्याय, AIR 1950, SC के मामले में अभियुक्त देवमन को श्रीमती सुखदेई की हत्या के आरोप में गिरफ्तार किया गया। देवमन ने पुलिस से कचन किया कि उसने सुखदेई की हत्या गैँडासे से की। गैँडासा उसने किसी दूसरे से माँगा था। गैँडासा तालाब में फेंक दिया और जल्दी से नहाकर भाग गया। पुलिस अफसर तथा गवाहों की उपस्थिति ने देवमन में गैँडासा तालाब से निकाला। उच्चतम न्यायालय ने निर्णीत किया कि अभियुक्त के कथन का वह अंश जिसमें उसने कहा कि उसने सुखदेई को मारा था को छोड़कर शेष कथन साक्ष्य में ग्राह्य था। न्यायमूर्ति शा ने व्यक्त किया कि धारा 27 के अभियुक्त की संस्वीकृति का केवल वह भाग ग्राह्य होता है जिससे किस तथ्य की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रश्न न० 4— मृत्युकालीन घोषणा किसे कहते हैं? अगर मरता हुआ व्यक्ति जीवित हो जाता है त उसके मृत्युकालीन घोषणा का साक्ष्य मूल्य क्या है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— मृत्युकालिक कथन का अर्थ (Meaning of Dying Declaration)— जब कोई व्यक्ति अपनी मृत्यु के पूर्व कोई ऐसा कथन करता है जो कथन यथा तो उसकी मृत्यु के कारण सम्बन्धित होता है या फिर उन परिस्थितियों के बारे में होता है जिन परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हुई। मृत्युकालिक कथन कहा जाता है। ऐसी मृत्यु हत्या द्वारा या आत्महत्या द्वारा हो सकती है।

मृत्युकालिक कथन से सम्बन्धित प्रावधान भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 32 (1) निम्नलिखित रूप में किया गया है—

साक्ष्य अधिनियम की धारा 32 (1) के अनुसार— मृत्युकालिक कथन तब साक्ष्य में ग्राह्य सकता है, जब वह कथन किसी व्यक्ति द्वारा अपनी मृत्यु के कारण के बारे में या उस संव्यवहार क किसी परिस्थिति के बारे में किया गया है जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हुई, तब उन मामलों में जिन उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो।

ऐसे कथन सुसंगत होते हैं चाहे उस व्यक्ति को, जिसने उन्हें किया है उस समय पर वे किए ग थे। मृत्यु की प्रत्याशंका थी या नहीं और चाहे उस कार्यवाही की, जिनमें उस व्यक्ति को मृत्यु का कार प्रश्नगत होता है, प्रकृति कैसी ही क्यों न हो।

मृत्युकालिक कथन के साक्ष्य में ग्राह्य होने की आवश्यक शर्तें — मृत्युकालिक कथन तब साक्ष्य में ग्राह्य होता है जब निम्नलिखित शर्तें पूरी हों—

(1) ऐसा कथन मृत्यु के कारण के सम्बन्ध में किया गया हो— कोई भी मृत्यु कालिक कथन धारा 32 (1) के अन्तर्गत संसुगत होगा जब वह घोषणा करने वाले की मृत्यु के कारण सम्बन्धित हो, यदि मृत्युकालीन घोषणा, घोषणा करने वाले को मृत्यु के कारण से सम्बन्धित नहीं है वह घोषणा सुसंगत नहीं होगी।

उदाहरण— चाकू से घायल हो जाता है और बाद में A की मृत्यु हो जाती है। A मृत्यु से पाह कथन देता है कि B ने मुझे चाकू मारकर घायल कर दिया है। A का यह कचन B पर A की हत्या के विचारण में सुसंगत होगा, क्योंकि यह कथन A की मृत्यु के कारण से सम्बन्धित है।

(2) कथन उस परिस्थिति के बारे में किया गया हो जिसके फलस्वरूप मृत्यु हुई— यदि मृतक ने मृत्यु के पहले कोई कथन संव्यवहार किसी ऐसी परिस्थिति में किया है जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हुई तो ऐसी परिस्थिति के बारे में कथन मृत्युकालिक कथन के रूप में साक्ष्य में ग्राह्य होगा। चाहे मृतक को मृत्यु की आशंका न रही हो। **पाकला नारायन स्वामी अ. इम्परर, AIR 1939, PC के मामले में** अपीलार्थी पाकला नारायन की पत्नी ने मृतक कुरी नाकराजू से 18: ब्याज की दर से 1936 में 2000 उधार लिया था। 20 मार्च, 1937 को मृतक को अपीलार्थी की पत्नी का हस्ताक्षरित पत्र मिला जिसमें उसे रुपया लेने बेहरामपुर बुलाया गया था। मृतक ने वह पत्र अपनी पत्नी को दिखाया और कहा कि वह रुपया लेने बेहरामपुर जा रहा है। 23 मार्च को मृतक का शव 7 टुकड़ों में कटा हुआ पुरी स्टेशन पर एक ट्रंक में मिला।

इस प्रकार इस मामले में 20 मार्च, 1937 को मृतक का अपनी पत्नी से यह कहना कि वह बेहरामपुर पाकला के यहाँ रुपया लेने जा रहा है। 23 मार्च को मृतक का शव टुकड़ों में उस ट्रंक में पाया जाना जो धोबी ने अपीलार्थी पाकला के लिए खरीदा था। मृतक का अपनी पत्नी से किया गया कथन संव्यवहार की ऐसी परिस्थितियों से सम्बन्धित था, जिसके फलस्वरूप मृतक की मृत्यु हुई थी।

(3) कथनकर्ता की कथनोपरान्त मृत्यु हो गई हो— मृत्युकालिक कथन को साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होने के लिए आवश्यक है कि कथनकर्ता की ऐसा कथन करने के पश्चात् मृत्यु अवश्य हुई हो। यदि कथनकर्ता जीवित बच जाता है तो कथन मृत्युकालिक कथन के रूप में ग्राह्य नहीं होगा बल्कि ऐसा कथन धारा 157 के अधीन संपोषक साक्ष्य के रूप में एवं कथन में भिन्नता होने पर धारा 145 के अन्तर्गत कथन का खण्डन करने के लिए उपयोग किया जा सकता है।

(4) **कथनकर्त्ता की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो**— धारा 32 में आने वाले मृत्यु शब्द में आत्महत्या और मानववध दोनों शामिल होते हैं। एक व्यक्ति द्वारा अपनी मृत्यु के कारण के बारे में कथन उस समय सुसंगत हो जाता है जब उसकी मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो चाहे भले ही कथन करते समय उस व्यक्ति को मृत्यु की प्रत्याशंका न रही हो। हावभाव तथा संकेतों द्वारा मृत्युकालिक कथन (Dying Declaration by Gestures and Signs)— मृत्युकालिक कथन लिखित, मौखिक, हावभाव या संकेतों द्वारा हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति जो किसी कारणवश बोलने में असमर्थ है तो वह अपना मृत्युकालीन कथन हावभाव या संकेतों (इशारे) द्वारा कर सकता है।

क्वीन अ. अब्दुला, (1885) ILR के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि संकेतों द्वारा किया गया कथन भी साक्ष्य में ग्राह्य होगा। इस मामले में दुलारी एक वैश्या, जिसका गला किसी धारदार हथियार से कटा हुआ था, होश में होते हुए भी बोलने में असमर्थ थी, कोतवाल, मजिस्ट्रेट और सर्जन द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में उसने घायल करने वाले व्यक्ति का नाम इशारे से बताया, इसे मृत्युकालिक कथन माना गया।

मृत्युकालिक कथन के आधार पर दोषसिद्धि (Conviction on Basis of Dying Declaration) — या मृत्युकालिक कथन का साक्ष्यिक मूल्य (साक्ष्यिक महत्व) (Evidentiary value of dying declaration) — यद्यपि मृत्युकालिक कथन शपथ पर नहीं किया जाता और न ही प्रतिपरीक्षा की जाती है फिर भी साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मरते हुए व्यक्ति से झूठ बोलने की आशा नहीं की जा सकती।

खुशाव राव अ. स्टेट ऑफ बॉम्बे, AIR 1958, S.C. के मामले में उच्चतम न्यायालय निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है—

- (1) ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है कि मृत्युकालिक कथन एक दुर्बल साक्ष्य है। इसका साक्ष्यिक महत्व अन्य साक्ष्यों के समान होता है।
- (2) ऐसा कोई नियम नहीं है कि अतिरिक्त साक्ष्य की सम्पुष्टि के बिना मात्र मृत्युकालिक कथन— के आधार पर अभियुक्त को दण्डित नहीं किया जा सकता।
- (3) मृत्युकालिक कथन का साक्ष्यिक मूल्यांकन प्रत्येक मामले में तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर होना चाहिए।
- (4) प्रश्नोत्तर के रूप में मृतक के शब्दों में सक्षम मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित मृत्युकालिक कथन साधारण मृत्युकालिक कथन की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय साक्ष्य होता है।
- (5) मृत्युकालिक कथन की विश्वसनीयता की जाँच मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।

मोहनलाल एवं अन्य अ. हरियाणा राज्य, AIR 2007, S.C. के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मृत्युकालिक घोषणा अतिरिक्त सम्पुष्टि के बिना दोषसिद्धि को आधारित करने के लिए सत्य एवं स्वैच्छिक होनी चाहिए।

यदि कथन कर्त्ता जीवित बच जाय तो उसके कथन का मूल्य (उपयोग) — मृत्युकालिक कथन को साक्ष्य में ग्राह्य होने के लिए यह आवश्यक है कि जिसने मृत्युकालिक कथन किया है, उसको मृत्यु हो गई हो। यदि मृत्युकालिक कथनकर्त्ता मरता नहीं है अर्थात् जीवित बच जाता है जो कथन मृत्युकालिक कथन के रूप में साक्ष्य में ग्राह्य नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा कथन साक्ष्य अधिनियम की धारा 157 के अन्तर्गत सम्पोषक (पुष्टि) साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होगा अर्थात् ऐसे कथन का उपयोग कथन करने वाले व्यक्ति के बयान की पुष्टि के लिए किया जा सकता है।

यदि मृत्युकालिक कथन लिखित है तो उसका उपयोग साक्ष्य अधिनियम की धारा 154 के अन्तर्गत तब किया जा सकता है जब कथन कर्त्ता जीवित बच जाने के पश्चात् न्यायालय में अपना बयान देने उपस्थित होता है तथा मृत्युकालिक कथन से भिन्न कथन करता है तो उसके इस बयान का खण्डन करने के लिए पूर्व लिखित मृत्युकालिक कथन का उपयोग प्रतिपरीक्षा में किया जा सकता है।

अर्थात् मृत्युकालिक कथन के पश्चात् यदि कथनकर्त्ता जीवित बच जाता है तो उसके कथन का उपयोग धारा 157 के अन्तर्गत उसके बयान की पुष्टि या धारा 145 के अन्तर्गत उसके बयान का खण्डन करने के लिए किया जा सकता है।

स्टेट ऑफ असम अ. मफीजुद्दीन अहमद, AIR 1983, SC तथा दर्शन सिंह अ. स्टेट ऑफ असम, AIR 1983, SC के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि जब मृत्युकालिक कथन करने वाला व्यक्ति करता नहीं है अपितु जीवित रहता है तो उसका कथन मृत्युकालिक कथन नहीं माना जाएगा। ऐसा कथन धारा 157 के अन्तर्गत केवल सम्पोषक साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

प्रश्न न० 5— विशेषज्ञ कौन है ? विशेषज्ञ सम्पत्ति का साक्ष्यिक मूल्य क्या है? हस्तलेख विशेषज्ञ की सम्पत्ति कब सुसंगत होती है?

उत्तर— सामान्य नियम यह है कि कोई भी व्यक्ति न्यायालय में किसी तथ्य के बारे में उन्हीं बातों — की गवाही दे सकता है जिनके सम्बन्ध में उसे स्वयं जानकारी हो। परन्तु धारा 45 से 51 इस नियम का अपवाद है। इन धाराओं में अन्य व्यक्तियों (विशेषज्ञों) की रायों को सुसंगत माना गया है।

विशेषज्ञ कौन है ? (Who is an Expert?) — साधारणतया वह व्यक्ति विशेषज्ञ कहा जाता है तो उस विषय में विशेष ज्ञान रखता हो जिस विषय में वह अपनी राय देना चाहता है। विशेषज्ञ के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके

पास कोई विशेष डिग्री हो। यदि कोई व्यक्ति किसी विषय में व्यावहारिक अनुभव रखता है तो वह इसका विशेषज्ञ माना जाता है।

अब्दुल रहमान अ. मैसूर राज्य, (1972) क्रि. एल. जे. के मामले में सोने की शुद्धता के प्रश्न पर एक साधारण सुनार की राय ग्राह्य की गई थी यद्यपि उसके पास पुराने अनुभव को छोड़कर कोई अन्य उपाधि उस विषय पर नहीं थी। साक्ष्य अधिनियम की धारा 45 एवं 45-क विशेषज्ञ की राय को ग्राह्य तथा सुसंगत बनाती हैं जो निम्नलिखित हैं—

विशेषज्ञों की राय (धारा 45)— जबकि न्यायालय को विदेशी विधि की या विज्ञान की या कला की किसी बात पर या हस्तलेख या अंगुलि-चिन्हों की अनन्यता के बारे में राय बनानी हो तब उस बात पर ऐसी विदेशी विधि विज्ञान या कला में या हस्तलेख अंगुलि-चिन्हों की अनन्यता विषयक प्रश्नों में विशेष कुशल व्यक्तियों की रायें सुसंगत तथ्य हैं। ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं।

दृष्टान्त—प्रश्न यह है कि क्या 'क' की मृत्यु विष द्वारा कारित हुई? जिस विष के बारे में अनुमान है कि उससे शक की मृत्यु हुई है उस विष में पैदा हुए लक्षणों के बारे में विशेषज्ञों की रायें सुसंगत हैं।

धारा 45 निम्नलिखित विषयों पर विशेषज्ञों की राय को सुसंगत घोषित करती है—

(i) **विदेशी विधि—**जो विधि भारत में प्रवर्तित न हों, विदेशी विधि कही जाती है। न्यायालय को जब किसी विदेशी विधि के बारे में राय बनाना होता है तो वह विदेशी विधि की जानकारी के लिए सम्बन्धित देश के विधि विशेषज्ञ को बुलाता है।

(ii) **विज्ञान या कला के विषय पर—** विज्ञान या कला के विषय पर विशेषज्ञों की रायें सुसंगत होती हैं। 'विज्ञान या कला' का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया जाता है। इसके अन्तर्गत वे सभी विषय आते हैं जिनको जानने के लिए विशेष ज्ञान, कौशल, अध्ययन या अनुभव की जरूरत होती है या सामान्य प्रज्ञा वाले व्यक्ति की समझ के बाहर होते हैं।

शिवा कुमार. स्टेट (द्वारा इन्स्पेक्टर ऑफ पुलिस), AIR 2006, SC के मामले में अभियुक्त की निशानदेही पर पुलिस द्वारा अपराध में प्रयुक्त बन्दूक का लकड़ी वाला हिस्सा एवं लो वाला हिस्सा अलग-अलग बरामद किया गया था। फॉरेंसिक लैबोरेटरी से बन्दूक के लोहे वाले हिस्से का टेस्ट कराया गया था। यह अभिनिर्धारित हुआ कि फॉरेंसिक विशेषज्ञ की राय इस मामले में सुसंगत थी इसलिए उसकी राय का अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था।

(iii) **हस्तलेख या अंगुलि चिन्ह—**जब न्यायालय को किसी व्यक्ति के हस्तलेख या अंगुलि-चिह्न की सत्यता के बारे में जांच करनी होती है तो न्यायालय उस विषय के विशेषज्ञ से राय लेता है।

(iv) **अन्य तकनीकी विषय—**कुछ ऐसे तकनीकी विषय हैं जिन पर विशेषज्ञों की राय धारा 45 के अधीन साक्ष्य में ग्राह्य हो सकती है। यद्यपि धारा 45 में इनको नहीं बताया गया है ये विषय निम्नलिखित हो सकते हैं—

(A) **कुत्तों की सहायता से अन्वेषण—अब्दुल रज्जाक . स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, AIR 1970, SC के मामले में** उच्चतम न्यायालय ने कुत्तों की सहायता से किए गए अन्वेषण विज्ञान का विषय माना है।

(B) **टाइप लेख—स्टेट अ. एस. जे. चौधरी (AIR 1990, SC) के मामले में** यह विचार व्यक्त हुआ कि टाइप को कला या विज्ञान का विषय उसी प्रकार माना जा सकता है जिस प्रकार बैलिस्टिक के विशेषज्ञों को माना जाता है तथा टाइप लेख को धारा 45 के अधीन विशेषज्ञ की राय का विषय बनाया जा सकता है।

(C) **ब्रेन मैपिंग टेस्ट (Brain Mapping Test)—** इलेक्ट्रॉनिक साक्ष्य के परीक्षक की राय (Opinion of Examiner of Electronic Evidence) (धारा 45)— साक्ष्य अधिनियम की 45 इस प्रकार है—

जब किसी कार्यवाही में न्यायालय को किसी मामले में मत (Opinion) बनाना होता है जो किसी भेजी गई सूचना के सम्बन्ध में या किसी कम्प्यूटर साधन में भरी गई सूचना अथवा किसी अन्य इलेक्ट्रॉनिक अथवा अंकीय (Digital) रूप द्वारा सूचना के रूप में भरा जाता है तो इलेक्ट्रॉनिक साक्ष्य के परीक्षक की राय एक सुसंगत तथ्य है।

धारा 45 के प्रयोजन हेतु इलेक्ट्रॉनिक साक्ष्य का परीक्षक एक विशेषज्ञ व्यक्ति माना जायेगा।

विशेषज्ञ के साक्ष्य का साक्ष्यिक मूल्य (महत्व) (Evidentiary Value of Experts Opinion)— अधिनियम में केवल विशेषज्ञों की राय की सुसंगति के बारे में बताया गया है, साक्ष्यिक मूल्य के बारे में नहीं। विशेषज्ञ का साक्ष्य कम मूल्य का माना जाता है। विशेषज्ञ के साक्ष्य को अधिक वधानी से देखा जाना चाहिए। विशेषज्ञ की राय न्यायाधीश पर बाध्यकारी नहीं होती। विशेषज्ञ के साक्ष्य का मूल्यांकन न्यायाधीश द्वारा किया जाना चाहिए।

निम्न कारणों से विशेषज्ञ के साक्ष्य को सारभूत साक्ष्य नहीं माना जाता—

(i) विशेषज्ञ से गलती होने की सम्भावना रहती है या जान-बूझकर झूठ बोल सकता है।

(ii) विशेषज्ञ का साक्ष्य केवल एक राय होती है जो बिल्कुल सही नहीं हो सकती।

(iii) विशेषज्ञ उस पक्षकार के पक्ष में पक्षपात कर सकता है जिसने उसे बुलाया है।

न्यायालय को विशेषज्ञ के साक्ष्य को ग्राह्य करने के पूर्व साक्ष्य की सत्यता के बारे में विचार करना चाहिए। **रजा पाशा अ. स्टेट ऑफ मध्य प्रदेश, AIR 1974, SC के मामले में** प्रश्न यह था कि गोली कितनी दूर चलाई गई? उच्चतम न्यायालय ने बैलिस्टिक विशेषज्ञ की राय को अधिक महत्व दिया। **मुरारी लाल अ. स्टेट ऑफ एम. पी., AIR 1980, SC के मामले में** उच्चतम न्यायालय ने अभियुक्त को दोषसिद्धि को इसलिए सही माना है क्योंकि हत्यारे द्वारा छोड़ा गया पत्र विशेषज्ञों की राय में अभियुक्त के हस्तलेख में था।

हस्तलेख विशेषज्ञ की राय की सुसंगतता (Relevancy of the Opinion of Hand , Writing Expert)— हस्तलेख विशेषज्ञ की राय की सुसंगतता के क निम्नलिखित प्रावधान करती है—

हस्तलेख के बारे में राय कब सुसंगत है (धारा 47)— किसी व्यक्ति के हस्तलेख से परिचित व्यक्ति की राय सुसंगत होगी, जब न्यायालय को यह राय बनानी हो कि—

(i) वह दस्तावेज उसी व्यक्ति द्वारा लिखी गई थी या हस्ताक्षरित की गयी थी। जिस व्यक्ति द्वारा लिखी गयी या हस्ताक्षरित की गई अनुमानित की जाती है।

(ii) हस्तलेख से परिचित व्यक्ति की राय यह है कि वह दस्तावेज उस व्यक्ति द्वारा लिखित या विषय हस्ताक्षरित की गई थी अथवा लिखित या हस्ताक्षरित नहीं की गयी थी।

दृष्टान्त—प्रश्न यह है कि क्या अमुक पत्र लन्दन के एक व्यापारी 'क' के हस्तलेख में है?

'ख' कलकत्ते में एक व्यापारी है जिसने 'क' को पत्र सम्बोधित किए हैं तथा उसके द्वारा लिखे व्यक्त हुए तात्परित होने वाले पत्र प्राप्त किए हैं। 'ग' 'ख' का लिपिक है जिसका कर्तव्य 'ख' के पत्र—व्यवहार स्टक को देखना और फाइल करना था। 'ख' का दलाल 'घ' है जिसके समक्ष 'क' द्वारा लिखे गए तात्परित नाया होने वाले पत्रों को उनके बारे में उससे सलाह करने के लिए श्रृंखला बराबर रखा करता था।

'ख', 'ग' और 'घ' की इस प्रश्न पर रायें कि क्या वह पत्र 'क' हस्तलेख में है, सुसंगत है। यद्यपि न तो 'ख' ने, न ही 'ग' ने और न ही 'घ' ने 'क' को लिखते हुए कभी देखा था।

हस्तलेख साबित करने के ढंग—

हस्तलेख पहचानने के निम्नलिखित ढंग धारा 45 और धारा 47 में बताए गए हैं—

(i) **स्वयं लेखक द्वारा**— प्रश्नगत हस्तलेख की पहचान लेखक स्वयं कर सकता है। वह न्यायालय को बता सकता है कि प्रश्नगत हस्तलेख उसी का है।

(ii) **विशेषज्ञ द्वारा**—जब लेखक अपने हस्तलेख को स्वयं का बताने से इन्कार करता है तो

विशेषज्ञ की राय के आधार पर हस्तलेख साबित किया जा सकता है। **उच्चतम न्यायालय ने राम नारायण अ. उ. प्र. राज्य, AIR 1973, SC के मामले में** फिरोती की रकम के लिए लिखा गया पत्र विशेषज्ञ की राय के आधार पर अभियुक्त के हस्तलेख में माना गया तथा दोषसिद्धि प्रदान की गई।

(iii) **हस्तलेख से परिचित व्यक्ति की राय द्वारा**— कोई हस्तलेख उस हस्तलेख से परिचित व्यक्ति की राय के आधार पर साबित किया जा सकता है।

(iv) **धारा 73 के आधार पर**— धारा 73 के आधार पर न्यायालय प्रश्नगत हस्तलेख या हस्ताक्षर को उस व्यक्ति की स्वीकृति से या साबित किए हुए उस व्यक्ति के हस्तलेख से तुलना करके साबित कर सकता है जिस व्यक्ति का हस्तलेख होना वह हस्तलेख कहा जाता है।

फखरुद्दीन अ. स्टेट ऑफ मध्य प्रदेश, AIR 1967, SC के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णीत किया है कि वह हस्तलेख प्रत्यक्ष साक्ष्य होगा जो ऐसे व्यक्ति की गवाही से साबित किया जाता है जिसकी उपस्थिति में वह लिखा गया था।

(v) **आंकिक हस्ताक्षरों के सत्यापन का सबूत (धारा 73-क)**— यह जानने के लिये कि आंकिक हस्ताक्षर उसी व्यक्ति के है जिसके कि वह नजर आ रहे हैं। न्यायालय आदेश दे सकता है कि वह व्यक्ति या प्रमाणकर्ता प्राधिकारी का नियन्त्रण आंकिक हस्ताक्षर का प्रमाण पत्र पेश करें या कोई अन्य व्यक्ति आंकिक हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र में बताई गई विधि का प्रयोग करके सत्यापित करे दि हस्ताक्षर उसी व्यक्ति के हैं।

प्रमाणकर्ता प्राधिकारी की राय (धारा 47-क) — सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 साक्ष्य अधिनियम में धारा 47-क जोड़ी गई है जिसके अनुसार “जब न्यायालय को किसी आंकिक हस्ताक्षर के सत्यता के बारे में राय बनानी हो तो ऐसे प्रमाणकर्ता प्राधिकारी की राय सुसंगत होगी जिस आंकिक हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र जारी किया है।”

प्रश्न न० 6— सक्षम साक्षी किसे माना जाता है? वह कौन-सी कसौटी है जिस पर साक्षी की सत्यता जाँची जाती है? दृष्टान्त दीजिए।

उत्तर—सामान्य नियम के अनुसार सभी लोग साक्ष्य देने की क्षमता रखते हैं, अक्षमता अपवाद है। धारा 118 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के अनुसार, “सभी व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए सक्षम होंगे जब तक कि न्यायालय का यह विचार न हो कि कोमलवय, अतिवार्धक्य, शरीर के या मन के रोग या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से वे उनसे किये गये प्रश्नों को समझने से या उन प्रश्नों के युक्तिसंगत उत्तर देने से निवारित हैं।”

अधिनियम की धारा 118 के अनुसार सभी व्यक्ति सक्षम साक्षी होंगे जब तक कि न्यायालय य न समझे कि कोई व्यक्ति उनसे किये गये प्रश्नों को समझने यश उत्तर देने से निम्नलिखित कारणों निवारित है—

- (1) कोमलवयस, या
- (2) अतिवार्धक्य (वृद्धावस्था), या
- (3) शारीरिक या मानसिक रोग, या
- (4) इसी प्रकार का अन्य कारण।

बालक (Child Witness)— धारा 118 में अक्षमता का एक कारण बालपन बताया गया है। बालक की क्षमता का निर्धारण भी न्यायालय प्रश्नों को पूछकर करेगा, और यदि बालक इतनी बुद्धि रखता है कि प्रश्नों को समझ सके और उसका युक्तिसंगत उत्तर दे सके तो उसके द्वारा दिया साक्ष्य मान्य होगा। 5-6 वर्ष तक के बालक भी साक्ष्य देने के लिए सक्षम माने गये हैं, परन्तु 12 वर्ष से नीचे के बालक यदि साक्षी के रूप में पेश होते हैं तो उन्हें शपथ नहीं दिलायी जाती।

वृद्ध, बीमार, पागल व्यक्ति (Old Age- Diseased and Lunatic Person)— कभी-कभी स बहुत वृद्ध हो जाने के कारण भी व्यक्ति की समझ कम हो जाती है और यदि न्यायालय पाता है कि अति वृद्ध हो जाने के कारण साक्षी प्रश्नों को समझने और उसका युक्तिसंगत उत्तर देने में असमर्थ है तो उसका साक्ष्य नहीं लिया जायेगा। इसी प्रकार शारीरिक या मानसिक रोग के कारण भी न्यायालय किसी व्यक्तिस को साक्ष्य देने से अक्षम घोषित कर सकता है। परन्तु ऐसे सभी मामलों में क्षमता परखने की कसौटी एक ही है और वह है प्रश्नों को समझने और उनका युक्तिसंगत उत्तर देने की बुद्धि, समझ और क्षमता।

पागल व्यक्ति के बारे में तो धारा 118 के स्पष्टीकरण में ही कहा गया है कि “कोई पागल व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए अक्षम नहीं है, जब तक कि वह अपने पागलपन के कारण उससे किये गये प्रश्नों को समझने से या उनके युक्तिसंगत उत्तर देने से निवारित न हो।”

मूक साक्षी (Dumb Witness)— यदि कोई साक्षी बोलने में असमर्थ है तो इतने मात्र से वह साक्ष्य देने में अक्षम नहीं माना जायेगा। कोई व्यक्ति बोलने में असमर्थ रोग के कारण हो सकता है, मौन व्रत लेने के कारण हो सकता है या जन्मजात गूँगा हो सकता है। गूँगा व्यक्ति मूर्ख नहीं माना जाता और उसके द्वारा दिया गया साक्ष्य धारा 119 के अनुसार मान्य होगा।

गूँगा व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित होकर इशारों के द्वारा अपना साक्ष्य दे सकता है। उन इशारों या संकेतों की व्याख्या करना और अर्थ लगाना न्यायालय का कार्य होगा।

परन्तु यदि साक्षी मौखिक रूप से संसूचित करने में असमर्थ है तो न्यायालय कथन अभिलिखित करने में किसी द्विभाषी या विशेष प्रबोधक की सहायता लेगा और ऐसे कथन की वीडियो फिल्म तैयार की जा सकेगी।

पति-पत्नी (Husband and Wife)— धारा 120 के प्रावधानों के अनुसार—

(1) दीवानी कार्यवाहियों में दावे पक्षकार और किसी पक्षकार का पति या पत्नी सक्षम साक्षी होंगे।

(2) जिस व्यक्ति के विरुद्ध कोई दाण्डिक कार्यवाही हो तो उसका पति या पत्नी सक्षम साक्षी होंगे। **हिम्मत सुखदेव बहुखौं बनाम महाराष्ट्र राज्य, ए. आई. आर. 2009, एस. सी. 2292 के वाद** में 13 वर्ष के बच्चे के साक्ष्य को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विश्वसनीय साक्ष्य माना और ग्रहण किया गया। **धर्मवीर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए. आई. आर. 2010, एस. सी. 1378 के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने** कहा कि मात्र यह कि चश्मदीद गवाह का सम्बन्ध शत्रु पक्ष से भी था उसके साक्ष्य को रद्द करने का आधार नहीं हो सकता है।

प्रश्न न0 7— मुख्य परीक्षा, प्रतिपरीक्षा तथा पुनर्परीक्षा (प्रवृच्छा, प्रतिपृच्छा तथा पुनर्परीक्षा) का वर्णन कीजिए।

उत्तर—धारा 135 कहती है कि दीवानी तथा आपराधिक कार्यवाहियों में जिस प्रकार विधि तथा प्रक्रिया में साक्ष्य लेना प्रचलित है, उसी प्रकार से न्यायालय द्वारा साक्ष्य का क्रम स्थापित किया जायेगा। यह विषय मुख्यतः न्यायाधीश के विवेक पर निर्भर करता है कि साक्ष्य को किस प्रकार ग्रहण किया जाये।

धारा 136 अभिनिर्धारित करती है कि साक्ष्य को सुसंगत तथ्यों तक सीमित रखा जाये। साक्ष्य देने वाले पक्षकार से न्यायाधीश यह कह सकता है कि वह अपना साक्ष्य सिर्फ सुसंगत तथ्यों तक ही सीमित रखे।

धारा 138 निर्धारित करती है कि साक्षी की परीक्षाओं का क्रम क्या है, उसके अनुसार पहले मुख्य परीक्षा, फिर प्रतिपरीक्षा तथा आवश्यकता पड़ने पर पुनः परीक्षा होगी।

मुख्य परीक्षा (Examination-in-chief)—धारा 137 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के अनुसार किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा, जो उसे बुलाता है, परीक्षा उसकी मुख्य परीक्षा कही जाती है। जैसे यदि ‘अ’ और ‘ब’ के बीच कोई वाद न्यायालय में चल रहा है तथा ‘द’ साक्षी के तौर पर ‘अ’ की ओर से बुलाये जाते हैं तो ‘अ’ या उसके लीडर की ओर से ‘स’ और ‘द’ की जो परीक्षा होगी, उसे साक्षी की मुख्य परीक्षा कहेंगे।

धारा 138 के अनुसार मुख्य परीक्षा सुसंगत तथ्यों से सम्बन्धित होनी चाहिये और वाद से विसंगत प्रश्न मुख्य परीक्षा में नहीं पूछे जा सकते। विशेषज्ञ के अतिरिक्त अन्य साक्षी तथ्यों के बारे में अपनी राय नहीं प्रकट कर सकते। वे केवल तथ्यों के बारे में अपनी जानकारी प्रकट कर सकते हैं।

दूसरा नियम यह है कि यदि प्रतिपक्षी द्वारा आपत्ति की जाय, जो प्रायः की जाती है, तो मुख्य में सूचक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते।

मुख्य परीक्षा के बारे में तीसरा नियम यह है कि न्यायालय की अनुमति के बिना अपने ही द्वारा बुलाये गये साक्षी से मुख्य परीक्षा में उसकी विश्वसनीयता परखने वाले प्रश्न नहीं पूछे जा सकते।

मुख्य परीक्षा का उद्देश्य होता है कि उसके जानकारी के सम्बन्धित तात्विक तथ्यों को प्राप्त करना होता है। यह भी ध्यान रहना चाहिये कि साक्षी को तथ्यों के बारे में ही बोलना चाहिये, किसी राय या अनुमान या विश्वास के बारे में नहीं।

प्रतिपरीक्षा

(Cross-Examination)—धारा 137 के अनुसार जब मुख्य परीक्षा के बाद प्रतिपक्षी द्वारा उसी साक्षी की परीक्षा की जाती है तो उसे प्रतिपरीक्षा (जिरह) करते हैं। प्रतिपरीक्षा साधारणतया विरोधी पक्षकार द्वारा की जाती है। जैसे—यदि ‘अ’ तथा ‘ब’ के बीच चल रहे वाद में, ‘अ’ की ओर से ‘स’ और ‘द’ साक्षी के रूप में न्यायालय में बुलाये गये हैं और ‘स’ तथा ‘द’ की मुख्य परीक्षा हो चुकी है तो ‘ब’ या उसका लीडर ‘स’ तथा ‘द’ की जो परीक्षा करते हैं वह प्रतिपरीक्षा कही जायेगी।

प्रतिपरीक्षा का मुख्य उद्देश्य अपने विरोधी पक्षकार के साक्षी के हाथों अपना वाद मजबूत करना और विरोधी पक्षकार का मामला ध्वस्त करना है। साथ ही प्रतिपरीक्षा द्वारा साक्ष्य की सत्यता की कसौटी पर कसा जाता है।

धारा 138 के अनुसार प्रतिपरीक्षा में पूछे गये प्रश्न वाद से सुसंगत हो सकते हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि वे सुसंगत तथ्यों तक ही सीमित हों। यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रतिपरीक्षा में वे ही प्रश्न पूछे जायें जो मुख्य परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों या तथ्यों से सम्बन्धित हों। प्रतिपरीक्षा का उद्देश्य किसी साक्षी को तोड़ने का प्रयत्न होता है या यह दर्शित करना होता है कि उसके कथन पर निर्भर नहीं किया जा सकता है।

प्रतिपरीक्षा का उद्देश्य साक्षी की विश्वसनीयता की जाँच करना होता है, यह सत्य को प्रकट करने का प्रबलतम विधि का सयधन है।

प्रणयार बनाम तमिलनाडु राज्य, ए. आई. आर. 2010, एस. सी. 85 के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि पुनः परीक्षा का उद्देश्य यह होता है कि प्रतिपरीक्षा में जो सन्देह उत्पन्न हुआ है उसे स्पष्ट किया जाये।

धारा 143 के अनुसार प्रतिपरीक्षा में साक्षी से सूचक प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

धारा 145 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि साक्षी ने पहले कोई लिखित कथन किया है या उसके कथन को लिखा गया है तो प्रतिपरीक्षा में बिना उस कथन को साक्षी को दिखाये या साबित किये उसके बारे में प्रश्न पूछा जा सकता है।

पुनः परीक्षा (Re-examination)— धारा 137 के अनुसार पुनः परीक्षा उसे कहते हैं, जो साक्षी की प्रतिपरीक्षा के वाद उस पक्षकार द्वारा की जाती है, जिसने साक्षी को बुलाया था और पहले उसकी मुख्य परीक्षा की थी। जैसे यदि 'अ' और 'ब' के बीच चल रहे वाद में 'स' तथा 'द' साक्षी के रूप में पेश होते हैं और 'अ' द्वारा मुख्य मुख्य परीक्षा किये जाने के बाद 'ब' द्वारा प्रतिपरीक्षा भी हो जाती है तथा श्अ द्वारा उन साक्षियों की फिर परीक्षा की जाती है तो उसे साक्षी की पुनः परीक्षा कहते हैं।

जब साक्षी की मुख्य परीक्षा और प्रतिपरीक्षा हो जाती है तो प्रतिपरीक्षा में आयी कुछ बातों या तथ्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिये उसकी वह पक्षकार पुनः परीक्षा कर सकता है जिसने उसे साक्षी के तौर पर बुलाया था।

पुनः परीक्षा में भी न्यायालय की अनुमति के बिना साक्षी से सूचक प्रश्न नहीं पूछे जा सकते।

पुनः परीक्षा का उद्देश्य साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार को ऐसा अवसर देना होता है जिससे वह मुख्य परीक्षा की उस कमी को दूर करे जिसका प्रतिपरीक्षा के समय पता चला है। न्यायालय की अनुमति के बिना कोई नई बात नहीं पूछी जानी चाहिये।

प्रश्न न० 8— सह-अपराधी कौन है? सह-अपराधी के साक्ष्य की ग्राह्यता के नियम संक्षेप में बताइए।

उत्तर—सह-अपराधी ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जिसने स्वयं किसी अपराध को करने में भाग लिया हो जब कुछ लोग मिलकर अपराध को करते हैं तो उन्हें सह-अपराधी कहते हैं।

अधिनियम के दो उपबन्ध इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। धारा 133 के अनुसार, फ्कोई वह-अपराधी सक्षम साक्षी होगा और कोई दोषसिद्धि केवल इसलिये अवैध नहीं है कि वह किसी शाह-अपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गयी है।

सह-अपराधी के परिसाक्ष्य पर न्यायालय दण्ड दे सकता है। ऐसी दोषसिद्धि केवल इस आधार नावर अवैध नहीं होगी कि यह सह-अपराधी के ऐसे परिसाक्ष्य पर आधारित है जिसका समर्थन करने वाला ये कोई साक्ष्य नहीं दिया गया है।

दूसरा उपबन्ध धारा 114 (B) के अन्तर्गत मिलता है जो यह कहती है कि न्यायालय यह उपधारित का सकेगा कि "सह-अपराधी विश्वसनीयता के अयोग्य है जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती है।"

इसका मतलब यह है कि सह-अपराधी विश्वसनीयता के आयोग्य है जब तक कि उसके परिसाक्ष्य को किसी अन्य साक्ष्य का समर्थन न मिल जाय।

धारा 133 स्पष्ट रूप से न्यायालय को सह-अपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि का पूर्णतया अधिकार देती है लेकिन क्योंकि ऐसा व्यक्ति स्वयं अपराधी रहा है इसलिये प्रत्येक परिस्थिति में वह विश्वसनीय नहीं हो सकता और इसलिये न्यायालय को मार्गदर्शन के रूप में धारा 114 (B) के अधीन बताया गया है कि अगर आवश्यक हो तो न्यायालय यह उपधारणा कर सकता है कि उसकी बातें विश्वास करने के लायक नहीं हैं, जब तक कि किसी अन्य साक्ष्य का समर्थन न मिल जाये। **न्यायमूर्ति चन्द्रचूर्ण ने डगडू बनाम महाराष्ट्र राज्य, (1977) 3. एस. सी. सी. 74 के वाद में** कहा कि धारा 133 तथा 114 (B) में कोई विरोधाभास नहीं है क्योंकि दृष्टान्त केवल उपधारणा के लिये कहता है, निश्चायक उपधारणा के लिये नहीं। दोनों को एक साथ लेकर पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि सह-अपराधी सक्षम साक्षी है और उसकी असम्पुष्ट परिसाक्ष्य पर दोषसिद्धि हो सकती है। किसी ऐसे अपराधी को जिसको क्षमा किया गया है वह अपनी क्षमा की शर्तों को निभायेगा और उस पर विश्वास करना खतरनाक हो सकता है। इस विषय पर **भुबोनी साहू बनाम किंग, (1949) 76, आई. ए. 147 के वाद में प्रिवी काउन्सिल ने कहा** कि सह-अपराधी के साक्ष्य से सम्बन्धित इंगलिश विधि के समान है। न्यायालय को सावधानी के नियमों का पालन करना चाहिये। अभियुक्त के विरुद्ध स्वतन्त्र साक्ष्य का भी सहारा लेना चाहिये। इस धारा के उद्देश्यों के लिये सह-अपराधी किसे कहते हैं **हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने डेविस बनाम डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक प्रॉसीक्यूशन्स, (1954) ए. सी. 373 के वाद में** दिया है। दाण्डिक विचारण में जब कोई सह-अपराधी सरकार की ओर से साक्ष्य देता है तब उसके साक्ष्य पर दोषसिद्धि की जा सकती है लेकिन बिना सम्पुष्टि के दोषसिद्धि खतरनाक

हो सकता है अगर असम्पुष्टि के आधार पर दोषसिद्धि किया गया है तो रद्द कर देना चाहिये। भले ही सह-अपराधी के साक्ष्य का पर्याप्त समर्थन मिला हो। **भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने आर. के. डालमिया बनाम देलही एडमिनिस्ट्रेशन, ए. आई. आर. 1962, एस. सी. 1821 के वाद में** कहा कि सह-अपराधी की कोई प्रारूपिक परिभाषा नहीं प्रान्त होती है। लेकिन वह व्यक्ति जो किसी आरोपित अपराध में सहभागिता निभाता है वह सह-अपराधी है। इसके सन्दर्भ में दो बातों का ध्यान किया जाना चाहिये—

- (1) चूँकि वह स्वयं अपराधी है इसलिये उसके साक्ष्य को सामान्यतया महत्व नहीं दिया जाना चाहिये।
 - (2) चूँकि अपने अपराधी मित्र के साथ विश्वास भंग किया है अतः सरकार के साथ भी कपट कर सकता है।
- निर्दोष को दोषी के साथ बचने का यह उपाय होना चाहिये कि कोई अन्य ऐसा स्वतन्त्र होना चाहिये जो कुछ सीमा तक प्रत्येक अभियुक्त को संलिप्त करता हो। **किंग बनाम बास्कर विले, (1916) के. बी. 658 के वाद में** यह कहा गया कि सह-अपराधी के साक्ष्य ग्राह्य है लेकिन उसके असम्पुष्टि परिसाक्ष्य पर दण्ड देने के पहले न्यायालय को अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना चाहिये और केवल उसी के साक्ष्य के आधार पर दण्ड नहीं अधिरोपित करना चाहिये।

रामेश्वर कल्याण सिंह बनाम राजस्थान राज्य, ए. आई. आर. 1955, एस. सी. 327 के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि कोई निश्चायक नियम नहीं बनाया जा सकता कि सम्पुष्टिकारक साक्ष्य का मापदण्ड क्या है? लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पुष्टि स्वतन्त्र साक्ष्य से सम्बन्धित होनी चाहिये। अपराधी का अपराध से सम्बन्ध साबित किया जाना आवश्यक है।

रेणुका बाई बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2006) 7, एस. सी. सी. 442 के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के. जी. बालाकृष्णन् ने कहा कि न्यायालय को ऐसे मामलों में कठोर कार्यवाही का ध्यान रखना चाहिये—

निम्न सिद्धान्तों को सावधानी के रूप में ध्यान देख चाहिये—

- (1) प्रत्येक तात्त्विक परिस्थितियों में स्वतन्त्र साक्ष्य होना आवश्यक नहीं है।
- (2) कुछ स्वतन्त्र साक्ष्य होना चाहिये जो साक्षी के साक्ष्य को युक्तियुक्त रूप से विश्वसनीय बनाये।
- (3) सम्पुष्टि स्वतन्त्र स्रोत से प्राप्त होनी चाहिये।
- (4) सम्पुष्टि के लिये प्रत्येक साक्ष्य आवश्यक नहीं है कि अभियुक्त ने अपराध किया है, मात्र परिस्थितियों का साक्ष्य होना चाहिये कि अभियुक्त का सम्बन्ध अपराध से था।

प्रश्न न० 9— विबन्धन के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इसके आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—विबन्धन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि कोई व्यक्ति अपने प्रतिवेदन या आचरण से, किसी व्यक्ति को कार्य करने को कहता है और वह उसी प्रतिवेदन से कार्य करता है, अन्य प्रकार से नहीं करता है, तो यदि उस व्यक्ति को जिसने प्रतिवेदन किया है, अपने पूर्व वक्तव्य से प्रतिवेदन के अनुसार, कार्य करने वाले व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करने के लिये इन्कार करने की या खण्डन करने की आज्ञा दी जाती है तो यह अत्यन्त अनीति होगी।

उत्तर—विबन्धन का अर्थ (Meaning of Estoppel) — 'इस्टोपेल' अंग्रेजी भाषा के शब्द फ्रेन्च शब्द 'इस्टाप' से पाया गया है जिसका अर्थ है 'रोक देना' अर्थात् किसी व्यक्ति के पहले के कार्य या स्वीकृति उसे यथार्थ तथ्य या सत्य कथन करने से रोक देते हैं। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 115 में विबन्धन के नियम के बारे में कहा गया है कि, जब कि एक व्यक्ति ने अपनी घोषणा, कार्य या लोप (Omission) द्वारा अन्य व्यक्तियों को विश्वास कराया है या कर लेने दिया है कि कोई बात सत्य है और ऐसे विश्वास पर कार्य कराया है या करने दिया है, तब न तो उसे और न उसके प्रतिनिधि को अपने और ऐसे व्यक्ति के, या उसके प्रतिनिधि के बीच किसी वाद या कार्यवाही में उस बात की सत्यता का प्रत्याख्यान (Deny) करने दिया जायेगा।" जैसे यदि क साशय और मिथ्या रूप से ख को यह विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है कि अमुक भूमि क की है और इस प्रकार ख को उसे क्रय करने और उसका मूल्य चुकाने के लिए उत्प्रेरित करता है तो बाद में यदि वह भूमि क की हो जाती है, वह इस आधार पर कि विक्रय के समय उस पर उसका हक नहीं था, विक्रय निरस्त करने की इच्छा करता है, तो उसे अपने हक का अभाव साबित करने नहीं दिया जायेगा।

धारा 115 पिकार्ड बनाम सीपर्स (1837) 6. एड. ई. आई. 469 नामक वाद पर आधारित है, जिसमें यह कहा गया था कि "जहाँ पर कोई व्यक्ति अपने शब्द या आचरण द्वारा जानबूझकर दूसरे व्यक्ति को यह विश्वासा दिलाता है कि किसी तथ्य का अस्तित्व है और उस विश्वास के आधार पर कार्य करने के लिए उस दूसरे व्यक्ति को प्रेरित करता है, ताकि उसकी पूर्व-स्थिति बदल जाय तो इसमें प्रथम व्यक्ति को उस तथ्य के विषय में अन्य रूप में कहने से रोक दिया जायेगा।"

विबन्धन के आवश्यक तथ्य (Essentials of Estoppel)— विबन्धन लागू होने के लिए निम्नलिखित तत्व आवश्यक हैं—

1. किसी भी रूप में, शब्दों, कार्य या लोप द्वारा कोई व्यपदेशन (Representation) होना चाहिये;
2. व्यपदेशन किसी तथ्य के सम्बन्ध में होना चाहिए न कि भविष्य के किसी कार्य या प्रतिज्ञा के बारे में;
3. व्यपदेशन करने वाले का आशय यह रहा हो कि उसके द्वारा किये गये व्यपदेशन पर विश्वास किया जाय। यह जरूरी नहीं है कि व्यपदेशन करने के पीछे कपटपूर्ण आशय रहा हो। यदि भ्रम में भी व्यपदेशन किया गया है तो वह विबन्धन हो सकता है। (**सरत चन्द्र डे बनाम गोपाल चन्द्र लाहा, आई. एल. 20. कल. 296**);
4. कोई व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जिसने उस व्यपदेशन पर विश्वास किया हो;
5. विश्वास करने वाले व्यक्ति ने अपनी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन कर लिया हो;

6. जो पक्ष विबन्धन के नियम की सहायता चाहता है उसे सत्यता का ज्ञान न रहा हो।

विबन्धन के प्रकार (Kinds of Estoppel)—

1. अभिलेख द्वारा विबन्धन (Estoppel by Record)— किसी सक्षम न्यायालय द्वारा किसी विषय पर दिया गया निर्णय विबन्धन का काम करता है और जिस वाद में निर्णय दिया गया है उसके पक्षकार उसी विषय को दोबारा न्यायालय में ले जाने या विवादग्रस्त बनाने से रोक दिये जाते हैं। अभिलेख के विषयों द्वारा विबन्धन उन सभी विषयों पर लागू होता है, जो निर्णय के समय अस्तित्व में थे तथा पक्षकारों को उन्हें न्यायालय के सामने लाने का अवसर था। अभिलेख विबन्धन को साक्ष्य अधिनियम में नहीं अपनाया गया है।

2. विलेख द्वारा विबन्धन (Estoppel by Deed)— “यदि किसी विशेष तथ्य का स्पष्ट कथन किसी मुद्रांकित दस्तावेज के परिवर्णन में किया गया है और उस परिवर्णन के सन्दर्भ में कोई संविदा की जाती है तो यह निर्विवाद सत्य है कि उस दस्तावेज के पक्षकारों के बीच तथा उस पर आधारित किसी कार्यवाही में, उसके पक्षकार उस परिवर्णन से इन्कार नहीं कर सकते। भारत में विलेख द्वारा विबन्धन नहीं लागू होता।

निम्न बातें इसके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं—

- (1) यह पक्षकारों और संसर्गियों के बीच विलेख की कार्यवाहियों में लागू होते हैं।
- (2) कोई भी विबन्धन जो किसी बाध्यता के लिये आशय नहीं रखता है वह नहीं लागू होगा।
- (3) यदि विलेख कपट या अवैधता के कारण दूषित हो तो कोई भी विबन्धन नहीं लागू होगा।

3. आचरण द्वारा विबन्धन (Estoppel in Pais)— आचरण विबन्धन पक्षकारों के कार्य, व्यपदेशन या आचरण द्वारा उत्पन्न होता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 115 आचरण विबन्धन को ही मान्यता देता है। यह विबन्धन उस स्थिति में लागू होता है जब कोई व्यक्ति अपने शब्दों या आचरण द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को किसी बात पर विश्वास कराता है और दूसरा व्यक्ति विश्वास करके अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लेता है।

कार्य द्वारा विबन्धन वहाँ होता है, जहाँ कोई व्यक्ति अपने कार्यों से दूसरे को किसी तथ्य के अस्तित्व की सत्यता पर विश्वास दिला देता है।

क्या मौन से विबन्धन हो सकता है? (Can mere Silence Even Amount to Estoppel?)

मात्र चुप रहना ही व्यपदेशन नहीं है, किन्तु जहाँ बोलना कर्तव्य है वहाँ जानबूझ कर चुप रहा जाता है, वह व्यपदेशन के तुल्य समझा जाता है और वहाँ विबन्धन उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में जब ऐसी परिस्थिति है कि यदि चुप रहा जाय तो विपक्षी पर जालसाजी होगी, तो वहाँ विबन्धन हो सकता है।

अपवाद (Exceptions)

1. जब सत्यता दोनों पक्षकारों को मालूम हो (Truth Known to both the Parties)— जब सत्यता दोनों पक्षकारों को मालूम होती है तो विबन्धन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। **मोहरी बीबी बनाम धर्मोदास, 30 कल. 559 पी. सी. में** अभिनिर्धारित किया गया कि विबन्धन का नियम वहाँ लागू नहीं होता, जहाँ पर किसी व्यक्ति ने किसी तथ्य के बारे में निरूपण किया है, जिसको सत्यता दोनों पक्षकारों को मालूम है।

2. विधि के प्रश्न पर (On Question of Law)— धारा 115 तब लागू होती है, ‘जबकि तथ्य का प्रश्न प्रश्नागत हो’ विधि के प्रश्न पर विबन्धन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। विबन्धन अधिनियम के विरुद्ध नहीं हो सकता है।

3. संप्रभु कार्यों के विरुद्ध (Against Government Policy as Sovereign)— सरकार के खिलाफ संप्रभु कार्यों तथा शासकीय कार्यों के सन्दर्भ में कोई विबन्धन नहीं हो सकता है।

4. अवयस्क (Minor)— अवयस्क पर विबन्धन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है, क्योंकि विबन्धन का व्यपदेशन आवश्यक है, जोकि संविदा करने में सक्षम व्यक्ति द्वारा ही किया जा सकता है। अर्थात् अवयस्क द्वारा विबन्धन नहीं हो सकता है।

प्रश्न न० 10— उपधारणा से क्या तात्पर्य है? वे कौन से मामले हैं जिनके बारे में उपधारणा की जा सकती है? विवेचना कीजिए।

उत्तर— उपधारणा (Presumption)— कुछ ऐसे तथ्य होते हैं, जो अपने आप में इतने प्रचलित या स्वाभाविक होते हैं कि उनको सिद्ध न करके न्यायालय के समय की बचत की जा सकती है। ऐसे तथ्यों के बारे में न्यायालय अनुमान लगा लेती है, जिसे हम उपधारणा कहते हैं।

उपधारणा वह अनुमान है जिसके द्वारा किन्हीं तथ्यों के होने अथवा न होने का विश्वास किया जाता है। इन अनुमानों के पीछे कुछ न कुछ आधार होना आवश्यक है। ये अनुमान अन्य साबित तथ्यों, न्यायालय की जानकारी या विधि के निर्देश के अनुसार लगाये जाते हैं। उपधारणा दो प्रकार की होती है तथ्यों सम्बन्धी एवं विधि सम्बन्धी। अतः इन दोनों मामलों में उपधारणा की जा सकती है—

1. तथ्यों सम्बन्धी उपधारणा (Presumption of Fact) या (उपधारणा कर सकेगा) (May Presume)— तथ्यों सम्बन्धी उपधारणा से तात्पर्य है, ऐसे तथ्य जिनका होना साधारणतया

स्वाभाविक हो, न्यायालय उनके होने में अनुमान लगाकर विश्वास कर ले। ऐसे अनुमान का आधार तर्क होता है न कि विधि का निर्देश। व्यक्ति बाहर से अन्दर आया और बाहर वर्षा ही रही है, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके कपड़े भीग गये होंगे। ऐसी उपधारणा तथ्यों सम्बन्धी उपधारणा कहलाती है। विधि की भाषा में तथ्यों सम्बन्धी उपधारणा उपधारित कर सकेगा वाक्य से प्रकट की जाती है। जहाँ उपधारित कर सकेगा शब्दों से प्रावधान शुरू हो वहाँ तथ्यों सम्बन्धी उपधारणा का आभास होता है एवं ऐसी उपधारणा करने के लिए न्यायालय को बाधित नहीं

किया जा सकता। यह न्यायालय कर सकती है एवं अगर चाहे जो तथ्यों को सिद्ध करने के लिए भी कह सकता है।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 4 के अनुसार— भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 4 में तथ्यों की उपधारणा या उपधारणा कर सकेगा (may presume) को निम्न प्रकार उल्लेखित किया गया है—

“उपधारणा कर सकेगा”— जहाँ कहीं इस अधिनियम द्वारा यह उपबन्धित है कि न्यायालय किसी तथ्य की उपधारणा कर सकेगा, वहाँ न्यायालय या तो ऐसे तथ्य को साबित हुआ मान सकेगा, यदि और जब तक वह नासाबित नहीं किया जाता है, या उसके सबूत की माँग कर सकेगा।

2. विधि सम्बन्धी उपधारणा (Presumption of Law) — विधि सम्बन्धी उपधारणा से तात्पर्य है। विधि द्वारा कुछ तथ्यों की उपधारणा करना। ऐसी उपधारणा न्यायालय के विवेकाधिकार से परे होती है। विधि के निर्देशानुसार न्यायालय को उपधारणा करनी ही पड़ती है। विधि सम्बन्धी उपधारणा भी दो प्रकार की होती है। प्रथम खण्डन करने योग्य तथा द्वितीय जिसका खण्डन न किया जा सके (अखण्डनीय)।

(i) खण्डनीय उपधारणा (Rebuttable Presumption) या उपधारणा करेगा (Shall Presume)— भारतीय साक्ष्य अधिनियम में खंडन किये जाने योग्य उपधारणा ‘उपधारणा करेगा’ वाक्य से सम्बोधित की गई है। धाराएँ 107, 108 इत्यादि ‘खंडन किये जाने के योग्य’ उपधारणाओं के उदाहरण हैं (किन्तु ऐसी उपधारणा को असिद्ध किया जा सकता है। न्यायालय तो तथ्यों के होने में विश्वास करेगा, किन्तु दूसरा व्यक्ति उसको असिद्ध करना चाहता है, तो न्यायालय को अनुमति देनी पड़ेगी)। जैसे—साक्ष्य अधिनियम की धारा 108 मृत्यु की उपधारणा करती है। **एस. आर. वाडेकर अ. भारत संघ, AIR, 1993 Bom.** के प्रकरण में कहा गया है कि व्यक्ति जिसके बारे में सात वर्ष से नहीं पुना गया है यह उपधारित किया जायेगा कि वह मर गया है।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 4 के अनुसार “उपधारणा करेगा” (Shall Presume)— जहाँ कहीं इस अधिनियम द्वारा यह निद्रिष्ट है कि न्यायालय किसी तथ्य की उपधारणा करेगा वहाँ न्यायालय से तथ्य को साबित मानेगा यदि और जब तक वह नासाबित नहीं किया जाता है।

(ii) अखण्डनीय उपधारणा (Irrebuttable Presumption) या निश्चायक सबूत Conclusive)— खण्डन न किये जाने योग्य विधि की उपधारणा से तात्पर्य है कि ऐसी उपधारणा करना न्यायालय के लिए आवश्यक है और न्यायालय विवेकाधिकार को प्रयोग में नहीं ले सकता, माथ ही यह उपधारणा निश्चायक होती है। ऐसे तथ्यों की नासाबित करने की न्यायालय अनुजा नहीं दे सकता। उदाहरण के लिए, भारतीय दंड संहिता की धारा 82 के अनुसार यदि 7 वर्ष से कम उम्र का बच्चा अपराध करता है, तो उसे अनभिज्ञ ही माना जाएगा। अगर यह साबित हो जाता है कि अपराधी की आयु 7 वर्ष से कम है, तो न्यायालय के लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि बच्चा अनभिज्ञ था। साथ ही पक्षकार को यह अनुज्ञा भी नहीं दी जा सकती है कि वह साबित करें कि बच्चा अनभिज्ञ नहीं था। सक्षम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय दूसरे न्यायालय के लिए समान बातों के लिए निश्चायक सबूत होते हैं। अधिनियम की धारा 41, 112 व 113 भी इसके उदाहरण हैं।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 4 के अनुसार—“निश्चायक सबूत” जहाँ कि इस अधिनियम द्वारा एक तथ्य किसी अन्य तथ्य का निश्चायक सबूत घोषित किया गया है, वहाँ न्यायालय उस एक तथ्य के साबित हो जाने पर उस अन्य को साबित मानेगा और उसे नासाबित करने के प्रयोजन के लिए साक्ष्य दिए जाने की अनुज्ञा नहीं देगा।

निष्कर्ष के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि अधिनियम में तीन तरह की उपधारणाओं को मान्यता दी गई है—

(1) ऐसी उपधारणा जी की जा सकती है जो न्यायालय के विवेकाधिकार पर निर्भर होती है। इन उपधारणाओं का खंडन किया जा सकता है।

(2) ऐसी उपधारणा जिनको विधि के निर्देशानुसार करना अनिवार्य होता है, किन्तु खंडन योग्य होती है।

(3) ऐसी उपधारणा अपने आप में निश्चायक होती है एवं जिनका खंडन नहीं किया जा सकता है।

विधि की उपधारणा एवं तथ्य की उपधारणा में अन्तर— विधि की उपधारणा एवं तथ्य की उपधारणा में कुछ प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) विधि को उपधारणा करने में न्यायालय अपने विवेक का प्रयोग नहीं करता है जबकि तथ्य की उपधारणा करते समय न्यायालय विस्तृत रूप में अपने विवेक का प्रयोग करता है ताकि सही निष्कर्ष निकाला जा सकें।

(2) विधि की उपधारणा कानून के नियम है और स्वयं कानून के अंग हैं जबकि तथ्य को उपधारणा में ऐसा कुछ नहीं होता है।

(3) विधि की उपधारणाओं का किया जाना न्यायालय के लिए अनिवार्य होता है जबकि तथ्य को उपधारणाएँ ली जा सकती है और नहीं भी।

(4) विधि की उपधारणाएँ दो प्रकार की होती हैं—

(i) जिनका खण्डन किया जा सकता है (खण्डनीय उपधारणा),

(ii) जिनका खण्डन न किया जा सके (अखण्डनीय उपधारणा) जबकि तथ्य की उपधारणा में ऐसा कोई भेद नहीं है।

प्रश्न न0 11— टिप्पणी कीजिए—

उत्तर— (1) शिनाख्त परेड— शिनाख्त ऐसे व्यक्ति से संबंधित होती है जिस पर किसी अपराध के करने का आरोप है या ऐसी वस्तु से संबंधित होती है जिसके सम्बन्ध में कोई अपराध किया गया हो।

पहचान का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को जिसके द्वारा कोई अपराध किया गया था, ऐसा संदेह होने पर उसकी जाँच किया जाना आवश्यक है और जाँच वही व्यक्ति कर सकता है, जो उसे जानता है। शिनाख्त परेड अथवा पहचान अन्वेषण का एक भाग मानी गई है।

इस तरह शिनाख्त का तात्पर्य उसके व्यक्तित्व का अवधारण यह सिद्ध करके करना है कि यह वही व्यक्ति है, जिसके द्वारा कार्य किया गया हो अथवा वह व्यक्ति अन्य व्यक्ति बनने का बहाना कर रहा हो।

पहचान परेड का उद्देश्य अभियुक्त की या वस्तु की सही पहचान की जा सके अन्यथा जाँच विफल हो जायेगी। पहचान परेड से अभियोजन पक्ष के साक्षियों को सही न्याय दिलाने में सहायता मिलती है। इस प्रकार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की स्मृति की परीक्षा भी हो जाती है।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 9 के अधीन शिनाख्त परेड साक्ष्य विधि के अनुसार सुसंगत होता है। शिनाख्त की कार्यवाही के तथ्य भी सुसंगत होते हैं जैसे— अभियुक्त की साक्षियों को फोटो दिखाकर या परेड में खड़े करके पहचान को भी सुसंगत साक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया। उच्चतम न्यायालय ने स्टेट बनाम बी. सी. शुक्ला ने कहा है कि गवाहों द्वारा किसी अभियुक्त का न्यायालय में आकर पहचान कर लेना, जबकि इससे पूर्व शिनाख्त की कार्यवाही न की गयी हो, व्यर्थ साक्ष्य होगा।

जो गवाह शिनाख्त की कार्यवाही में न पहचाना जा सकता है, इसके द्वारा न्यायालय में पहचान कार्यवाही व्यर्थ होगी। (पारसनाथ बनाम स्टेट ऑफ बिहार (1988) (1), ए. सी. सी. 15) वस्तुओं की पहचान होना भी सुसंगत तथ्य है उच्चतम न्यायालय के समक्ष ऐस मदरप्पा बनाम कर्नाटक (ए. आई. आर. 1983, एस. सी. 446) के वाद में खून एवं लूट की कुछ साड़ियाँ तथा गहने बरामद हुये। उस घर की स्त्रियों ने पहचान किया कि मृतक स्त्री की थी इसके विरुद्ध तर्क दिया गया कि साड़ियाँ जैसे—कपड़े, चेन, चूड़ियाँ—जैसे घर—घर में होते हैं इनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह ही उसी विशेषकर के हैं। किन्तु उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि यह आम बात है कि स्त्रियाँ अपनी वस्तुओं की पहचान की विशेषता रखती हैं खासकर परिवार में व्यक्तिगत प्रयोग की चीजें। 1 इसके अलावा बयान में यह बात कि साड़ियाँ कीमती सिल्क और विशेष डिजाइन वाली थीं एक महत्वपूर्ण पहचान की बात है। समय या स्थान पक्षकारों के सम्बन्ध में जो तथ्य होते हैं वह सुसंगत हैं। धारा 9 के अधीन ऐसे सभी तथ्य जो समय या स्थान दर्शाते हैं तथा पक्षकारों के बारे में बताते हैं, जैसे— मानहानि, झगड़ा का कारण, व्यापार टूटने के कारण आदि। इसी भाँति विशेषज्ञ की रिपोर्ट किसी हत्या का स्थान या समय निर्धारित करने के लिये सुसंगत होती है।

(2) मूकसाक्षी—साक्ष्य अधिनियम की धारा 119 मूक साक्षी के बारे में निम्नलिखित उपबंध करती है— धारा 119 साक्षी का मौखिक रूप से संसूचित करने में असमर्थ होना— ऐसा कोई साक्षी, जो बोलने में असमर्थ है, ऐसी किसी अन्य रीति से जिससे वह उसे बोधगम्य बना सकता है जैसे कि लिखकर या संकेत चिन्हों द्वारा अपना साक्ष्य दे सकेगा, किन्तु ऐसा लेखन लिखित रूप में होना चाहिए और खुले न्यायालय में प्रकट संकेत चिन्ह तथा इस प्रकार दिया गया साक्ष्य मौखिक साक्ष्य माना जायेगा।

परन्तु यदि साक्षी मौखिक रूप से संसूचित करने में असमर्थ है तो न्यायालय कथन अभिलिखित करने में किसी द्विभाषी या विशेष प्रबोधक की सहायता लेगा और ऐसे कथन की वीडियो फिल्म तैयार की जा सकेगी।

इस प्रकार धारा 119 के बारे में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

- (1) मूक साक्षी को अपना साक्ष्य लिखकर या संकेतों द्वारा देना होगा,
- (2) ऐसे लेख या संकेत खुले न्यायालय में करने होंगे या लिखने होंगे।
- (3) वह अपना साक्ष्य अपने तरीके से भी दे सकता है जिसमें वह साक्ष्य को समझने योग्य बना सकता है।
- (4) मूक साक्षी का साक्ष्य मौखिक साक्ष्य माना जायेगा।

मूक या गूँगा साक्षी—धारा 119 मूक व्यक्ति की साक्षी के रूप में सक्षमता के बारे में बताती है। गवाही देने के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह बोलकर ही कहे। यदि वह बोल नहीं सकता है तो अपने इशारों से भी तथ्यों को व्यक्त कर सकता है। यहाँ धारा 118 को अलग नहीं रखा जा सकता। गूँगे की सक्षमता के लिये भी देखना होगा कि क्या वह प्रस्तुत प्रश्नों को समझकर युक्तिसंगत उत्तर दे सकता है? यदि अपने इशारों से प्रश्नों का युक्तिसंगत उत्तर दे सकता है तो गूँगा व्यक्ति भी सक्षम गवाह माना जायेगा। गूँगे व्यक्ति का साक्ष्य या तो लिखित में होगा या इशारों से। इशारों से दिया गया साक्ष्य मौखिक साक्ष्य के समरूप माना जाता है।

लाखन सिंह अ. किंग एम्परर (1942) पटना के वाद में एक व्यक्ति जिसने मौन रखा था, इशारों से साक्ष्य देना चाहा। उसने अपने धर्मानुसार न बोलने की कसम खा रखी थी, इशारों से साक्ष्य देने की न्यायालय ने उसे आज्ञा दे दी। ऐसे व्यक्ति को मूक साक्षी की ही तरह माना जाना चाहिये।

किशन अ. स्टेट, 1995, Cr.L.J. (राज.)— जहाँ गूँगा हो जाने के कारण एक साक्षी अपना बयान देने के लिए शारीरिक रूप से अक्षम हो गया था यह अभिनिर्धारित हुआ कि उसकी परीक्षा न किए जाने से अभियोजन पक्ष के विरुद्ध कोई प्रतिकूल निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता था।

पब्लिक प्रोसीक्यूटर, ए. पी. हाईकोर्ट अ. लिंगी सेट्टी सीनू, 1997— इस प्रकरण में अभियोक्ता गूंगी थी जो बलात्संग का शिकार हुई। अतः गुर्गों के लिए राजकीय आवासीय विद्यालय के प्रधानाचार्य का उसके अनुवादक के रूप में साक्ष्य विशेषज्ञ साक्ष्य है और ऐसे अनुवादक की सहायता से उसके परिसाक्ष्य पर निर्भर किया जा सकता है।

(3) सबूत के भार— जब कोई व्यक्ति किसी तथ्य को साबित करने के लिए बाध्य होता है तब कहा जाता है कि उस व्यक्ति पर सबूत का भार है। सबूत के भार का अर्थ किसी तथ्य को साबित करने का दायित्व है। प्रत्येक पक्षकार को ऐसे तथ्य साबित करने होते हैं जो उनके पक्ष में हो तथा दूसरे पक्षकार के विपक्ष में। साधारणतया जब कोई व्यक्ति किसी तथ्य का अस्तित्व साबित करने के लिए आबद्ध होता है तब यह कहा जाता है कि उस व्यक्ति पर सबूत का भार है।

सबूत के भार के दो अर्थ हैं—

(क) किसी मामले को स्थापित करने का भार, और

(ख) साक्ष्य लाने का भार।

(क) किसी मामले को स्थापित करने का भार— ऐसा भार उस पक्षकार पर होता है, चाहे वादी हो या प्रतिवादी, जो विवादग्रस्त तथ्यों की सकारात्मकता का मौलिक रूप से समर्थन करता है। ऐसे सबूत का भार अभिवचनों के आधार पर परीक्षण में ही विधि के प्रश्न के रूप में निश्चित किया जाता है। यह पूरे विचारण में स्थिर रहता है। यह नियम धारा 101 में अन्तर्विष्ट है।

इस धारा के अनुसार जो कोई न्यायालय से यह चाहता है कि वह ऐसे किसी विधिक अधिकार या दायित्व के बारे में निर्णय दे, जो उन तथ्यों के अस्तित्व पर निर्भर है, जिन्हें वह प्राख्यान करता है, उसे साबित करना होगा कि उन तथ्यों का अस्तित्व है।

जब कोई व्यक्ति किसी तथ्य का अस्तित्व साबित करने के लिए आबद्ध है तब यह कहा जाता है कि उस व्यक्ति पर सबूत का भार है।

दृष्टान्त— 'क' न्यायालय से चाहता है कि वह 'ख' को अपराध के लिए दण्डित करने का निर्णय दे जिसके बारे में 'क' कहता है कि वह 'ख' ने किया है। 'क' को यह साबित करना होगा कि शखर ने वह अपराध किया है।

(ख) साक्ष्य लाने का भार (Burden of Onus)— साक्ष्य पेश करने के अर्थ में साबित करने का भार स्थिर नहीं रहता है। भार एक पक्षकार या दूसरे पक्षकार द्वारा पेश किये गये साक्ष्य या एक पक्षकार दूसरे पक्षकार के पक्ष में की गई तथ्य या विधि की उपधारणा के अनुसार करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत कर देता है। सबूत का भार दूसरे पक्षकार पर चला जाता है। यह नियम धारा 102 में अन्तर्विष्ट है।

धारा 102 के अनुसार, किसी वाद या कार्यवाही में सबूत का भार उस व्यक्ति पर होता है जो असफल हो जायेगा यदि दोनों में से किसी भी ओर से कोई भी साक्ष्य न दिया जाए।

दृष्टान्त — 'ख' पर उस भूमि के लिए 'क' वाद लाता है जो 'ख' के कब्जे में है और जिसके बारे में 'क' प्रख्यात करता है कि वह 'क' के पिता 'ग' की विल द्वारा 'क' के लिए दी गई थी।

यदि किसी भी ओर से कोई साक्ष्य न दिया जाए, तो 'ख' इसका हकदार होगा कि वह अपना कब्जा रखे रहे। अतः सबूत का भार 'ख' पर है।

काशीराम बनाम म.प्र. राज्य, (2002) 1SCC के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि प्रतिरक्षा का अधिकार लेते समय सबूत का भार अभियुक्त पर होता है, परन्तु यह अभियोजन पर अधिरोपित सबूत के भार के बराबर नहीं होता है, क्योंकि अभियोजन का अपना मामला बिना किसी दुक्तियुक्त शंकाओं (beyond reasonable doubt) के साबित करना होता है, जबकि धारा 105 के अन्तर्गत अभियुक्त को अपना मामला एक प्रज्ञावान व्यक्ति (Prudent man) की सन्तुष्टि तक ही साबित करना होता है।

(4) प्रकल्पना (Presumption)— विधि में प्रकल्पना का तात्पर्य विधि के नियम से होता है जिसमें न्यायालय एवं न्यायाधीश एक खास अनुमान (Inference), एक खास तथ्य से या खास साक्ष्य से तब तक निकालते हैं जब तक कि वह प्रमाणित नहीं हो जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् बेस्ट (Best) ने 'प्रकल्पना' शब्द का निम्नलिखित आशय अभिप्रेषित किया है— "The term presumption in its largest and most comprehensive signification- may be defined to be an inference, affirmative or disaffirmative of the truth or falsehood of a doubtful factor or proposition, drawn by a process of probable reasoning from something proved or taken as granted."

प्रकल्पनाएँ प्रकृति के मार्ग से निकाली जाती हैं। उदाहरण के लिये, दिन के बाद रात होगी आदि प्रकल्पनाएँ उस विस्तृत अनुभव पर आधारित हैं जो दो तथ्यों के मध्य स्थित होता है। प्रकल्पनाओं का उद्गम मानव सम्बन्धों से भी होता है, समाज की रीतियों (Usage) और व्यापार के प्रकारों से भी प्रकल्पनाएँ ली जाती हैं।

शब्द 'उपधारणा' का शाब्दिक अर्थ, बिना जाँच या सबूत के सत्य मान लेना है। **रसेल के अनुसार**, "जब हम किसी तथ्य के अस्तित्व को देखकर किसी अन्य तथ्य का अनुमान लगा लेते हैं तो उसे उपधारणा कहते हैं।"

बेस्ट के अनुसार, "उपधारणा एक निष्कर्ष है जो न्यायालय द्वारा सम्भाव्य तर्क का प्रयोग करके किन्हीं अन्य सत्य या मान्य सत्य सिद्ध से किन्हीं तथ्यों के सकारात्मक या नकारात्मक अस्तित्व निकाला जाता है।"

सोधी ट्रान्सपोर्ट कम्पनी बनाम उ. प्र. राज्य, A.I.R. 1986, S.C. 1099 के मामले में 'उपधारणा' के सम्बन्ध में न्यायमूर्ति वेंकटरमैया द्वारा अवलोकित किया गया कि उपधारणा स्वतः 'साक्ष्य' नहीं है, बल्कि जिस पक्षकार के पक्ष में उसका अस्तित्व होता है उसे पक्षकार के लिए श्रथम दृष्ट्या मामला बनाती है। वह उस व्यक्ति को सूचित करती है जिस पर सबूत का भार होता है। जब उपधारणा 'निश्चायक' होती है तो वह किसी अन्य साक्ष्य को पेश किया जाना दूर कर देती है, किन्तु जब वह खण्डनीय होती है तो वह केवल उस पक्षकार को इंगित करती है जिस पर उपधारित किए गए तथ्य पर साक्ष्य उचित रूप से एवं युक्तियुक्त रूप से पेश कर देता है कि वास्तविक तथ्य वह नहीं है जो उपधारित किया गया है तो उपधारणा उलट जाती है।

(5) **स्वीकृति**— स्वीकृति, जैसी कि इस धारा में परिभाषित है, एक मौखिक अथवा दस्तावेजी साक्ष्य होती है, जो किसी मामले के पक्षकार द्वारा या उसके प्रतिनिधि द्वारा उस मामले की विषय-वस्तु के बारे में या उसके सुसंगत तथ्यों के बारे में दी जाती है।

स्टीफेन ने अपनी 'डायजेस्ट ऑफ एविडेन्स' के अनुच्छेद 15 में इसकी परिभाषा देते हुए कहा है— "स्वीकृति किसी पक्षकार या उसकी ओर से अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया ऐसा लिखित या मौखिक के कथन है, जो विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के सम्बन्ध में किसी धारणा को इंगित करता है।"

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि स्वीकृति एक ऐसी स्वेच्छा अभिस्वीकृति है, जोकि एक न पक्षकार द्वारा अथवा किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई हो, जो कतिपय विवाद्यक अथवा सुसंगत तथ्यों के अस्तित्व के विधिक हित उसके साथ हों।

स्वीकृतियाँ यद्यपि एक कमजोर साक्ष्य होती हैं, फिर भी इनका साक्ष्य विधि में महत्वपूर्ण स्थान है। जब किसी तथ्य को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर उसे किसी अन्य साक्ष्य द्वारा साबित किये जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(6) **अनुभूत साक्ष्य**— अनुश्रुत साक्ष्य बहुत हो निर्बल होता है, क्योंकि यह साक्षी के व्यक्तिगत ज्ञान पर ही आधारित होता है। शब्द Hearsay— दो शब्द Hear अर्थात् सुनना एवं Say अर्थात् कहना से मिलकर बना है, अर्थात् अनुश्रुत साक्ष्य का अभिप्राय है— सुनकर साक्ष्य देना। कभी-कभी इसका तात्पर्य होता है कि दूसरे व्यक्ति से मिली सूचना के अनुसार एक व्यक्ति कुछ कहता है, जैसा कि Lim Yam Hong Vs- Lam Choon — Co- के विवाद में बम्बई उच्च न्यायालय ने अवधारण किया— "Hearsay Evidence which ought to have been rejected as irrelevant does not become admissible as against a party merely because his counsel fails to take objection when the evidence is tendered."

दृष्टान्त— 'अ' ने 'ब' के विरुद्ध एक परिवाद (Complaint) दायर किया और यह आरोप लगाया कि 'ब' ने उसे चाकू मारकर घायल कर दिया है। 'स' को साक्ष्य देने के लिए प्रस्तुत किया गया। इसका कथन है कि उसने स्वयं इस घटना को नहीं देखा, परन्तु उसने ऐसा सुना है। इस घटना को देखने का श्रेय किसी और को प्राप्त होगा, न कि गवाह 'स' को। यह अनुश्रुत साक्ष्य है।

अतः हम कह सकते हैं कि अनुश्रुत साक्ष्य वह साक्ष्य है जिसको कहने वाले व्यक्ति ने न तो स्वयं देखा है, न स्वयं सुना है और न उस बात का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया है, किन्तु उस तथ्य के बारे में अन्य तीसरे व्यक्ति के माध्यम से जाना है।

B.A.LL.B. 8th Sem. Paper-III Code of Civil Procedure and Limitation Act

प्रश्न न० 1— डिक्री से आप क्या समझते हैं? डिक्री के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए। प्रारम्भिक एवं अन्तिम डिक्री में अन्तर कीजिए।

उत्तर— सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2 उपधारा 2 के अनुसार आज्ञापत्र की परिभाषा दी गई है। जो इस प्रकार है। “आज्ञापत्र से ऐसे न्याय निर्णय की औपचारिक अभिव्यक्ति अभिप्रेत है जो कि वाद के में सभी या किन्हीं विवादास्पद विषयों के संबंध में पक्षकारों के अधिकारों को वहां तक निश्चित रूप से आधारित करता है, जहां तक की उसे अभिव्यक्त करने वाले न्यायालय का संबंध है। यह प्रारम्भिक या अन्तिम हो सकती है। डिक्री तब प्रारम्भिक होती है जब बाद में पूर्ण रूप से निपटारा कर दिए जा सकने के पहले आगे और कार्यवाही की जानी है। अन्तिम डिक्री वह होती है जो अन्तिम रूप से अधिकारों को विनिश्चय कर दे, जब ऐसा न्यायनिर्णय वाद को पूर्ण रूप से निपटा देता है। वह भागतः प्रारम्भिक और भागतः अन्तिम हो सकेगी”

किसी भी डिक्री में निम्न आवश्यक बातें होती हैं

- (1) वाद का निस्तारण हो गया हो।
- (2) वाद का निस्तारण न्यायालय के द्वारा हुआ हो।
- (3) यह निस्तारण किसी सिविल या राजस्व न्यायालय द्वारा अन्तिम रूप से हुआ हो।
- (4) निश्चित रूप से पक्षकारों के अधिकारों का अवधारण हो गया हो।
- (5) व्यतिक्रम में वाद के खारिज होने के आदेश की अभिव्यक्ति ना हो।

छोला राम बनाम मासक के मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वाद या अपील को अवधिरुद्ध करने वाला आदेश डिक्री नहीं है, क्योंकि इसमें पक्षकारों के अधिकारों का विनिश्चय नहीं होता है।

रतन सिंह बनाम विजय सिंह के मामले में यह तय किया गया है कि विलंब को माफ करने के लिए प्रस्तुत किए गए आवेदन पत्र को अस्वीकार करते हुए विलंब के कारण अवधिरुद्ध अपील को खारिज किए जाने का आदेश डिक्री नहीं है।

सिन्नामणि बनाम जी वेट्टीवेल के मामले में यह कहा गया है कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश डिक्री की परिभाषा में नहीं आता है समय-समय पर भारत के उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय द्वारा डिक्री के संबंध में निर्णय दिए जाते रहे हैं।

डिक्री के आवश्यक तत्व—

(1) एक निर्णय—अधिनिर्णय का अर्थ है विवाद में मामले का न्यायिक निर्धारण और न्यायनिर्णयन की कार्यवाही। आदेश में कि एक न्यायालय का निर्णय एक दशक के बराबर होता है, एक निर्णय होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि पार्टियों के बीच विवाद का कोई न्यायिक निर्धारण नहीं है, तो कोई निर्णय नहीं हो सकता है, उदाहरण के लिए, डिफॉल्ट रूप से खारिज की गई अपील, या पार्टियों की गैर-उपस्थिति के लिए एसयू को खारिज करने का आदेश एक की राशि नहीं है वहाँ के लिए डिक्री विवाद में मामले के न्यायिक निर्धारण के लिए है। इसके अलावा, ऐसा निर्णय एक न्यायालय द्वारा होना चाहिए।

(2) एक सूट में—डिक्री का दूसरा अनिवार्य तत्व यह है कि ऊपर उल्लिखित निर्णय एक वाद में दिया जाना चाहिए। यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है— सूट क्या है संहिता में सूट शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है।

हंसराज बनाम देहरादून—मसूरी इलेक्ट्रिक ट्रामवेज कंपनी लिमिटेड में निम्नलिखित शब्दों में सूट को परिभाषित किया है— सूट शब्द का सामान्य अर्थ है और कुछ संदर्भों के अलावा, एक वादी की प्रस्तुति द्वारा स्थापित एक नागरिक कार्यवाही का अर्थ लिया जाना चाहिए। इस प्रकार, प्रत्येक वाद की शुरुआत एक वादपत्र प्रस्तुत करके की जाती है और जब कोई दीवानी वाद नहीं होता है तो कोई डिक्री नहीं होती है। लेकिन जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, परिभाषा पूर्ण प्रतीत नहीं होती है क्योंकि कुछ सिविल कार्यवाही हैं, हालांकि एक आवेदन के साथ शुरू होने पर उन्हें एक दीवानी वाद माना जाता है और उसमें एक निर्णय एक डिक्री के बराबर होता है। इस प्रकार, एक विवाद प्रोबेट कार्यवाही हालांकि एक आवेदन की प्रस्तुति से शुरू होती है, फिर भी यह एक सिविल सूट के बराबर होती है। इसी तरह, एक कार्यवाही जिसमें मध्यस्थता अधिनियम, 1940 के तहत मध्यस्थता को संदर्भित करने के लिए एक समझौता दायर करने के लिए एक आवेदन किया जाता है, एक नागरिक सूट के रूप में माना जा सकता है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 और भूमि के तहत कुछ कार्यवाही अधिग्रहण अधिनियम, को दीवानी वाद भी माना जा सकता है। केरल उच्च न्यायालय के एक फैसले में कहा गया है कि मोटर वाहन अधिनियम की धारा 110-ए (एक आवेदन द्वारा शुरू) के तहत कार्यवाही सिविल प्रक्रिया संहिता 2 के तहत एक मुकदमे की प्रकृति में है, इसलिए इसके तहत किए गए आवेदन पर भी कार्यवाही शुरू हो गई है। यूपी कृषक अधिनियम को भी एक वाद के रूप में माना गया। इन कार्यवाहियों के अलावा, किसी अन्य अधिनियम में किसी अन्य कार्यवाही को दीवानी वाद के रूप में

नहीं माना जा सकता है और इसलिए, इसके तहत किया गया कोई भी निर्णय धारा 2 (2) के अर्थ के भीतर एक डिक्री के बराबर नहीं होगा।

(3) विवाद के मामलों में पार्टियों का अधिकार— धारा 2 (2) के आधार पर, ऊपर उल्लिखित न्यायनिर्णय ने विवाद के सभी या किसी भी मामले के संबंध में विवाद के पक्षकारों के अधिकारों का निर्धारण किया होगा। दूसरे शब्दों में, पार्टियों के अधिकारों पर एक निर्णय होना चाहिए था। हालांकि, यह जरूरी नहीं है कि विवाद के सभी मामलों को न्यायनिर्णय ने निर्धारित किया हो। मामले को स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि जहां एक मुकदमे में शामिल मुद्दा यह है कि विवादित घर का कब्जा किसके पास है, चाहे मकान मालिक हो या किरायेदार, ऐसे मुद्दे पर न्यायालय का कोई भी निर्णय अधिकारों पर निर्णय होगा। इस तरह के एक निर्णय एक डिक्री की राशि होगी। लेकिन जहां न्यायालय का निर्णय पक्षकारों के अधिकारों पर नहीं है, ऐसे निर्णय को डिक्री नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार, उपस्थिति में चूक के लिए एक वाद को खारिज करने का आदेश या फॉर्म पैपेरिस में मुकदमा करने की अनुमति देने से इनकार करने का आदेश या डिफॉल्ट के लिए अपील को खारिज करने का आदेश या आदेश 9, नियम 2 के तहत एक आदेश, जब समन की तामील नहीं की जाती है तो एक मुकदमा खारिज कर दिया जाता है।

वादी द्वारा कोर्ट—फीस का भुगतान करने में विफलता या गैर-अभियोजन के लिए निष्पादन के लिए एक आवेदन को खारिज करने का आदेश पार्टियों के अधिकारों पर निर्धारण नहीं है, इसलिए डिक्री नहीं है। पार्टियों के अधिकारों का उल्लेख यहां किया गया है, स्थिति, सीमा, अधिकार क्षेत्र, सूट के फ्रेम और खातों आदि से संबंधित अधिकार हैं। फिर से ऐसे अधिकार मूल अधिकार हैं न कि प्रक्रियात्मक अधिकार। इस प्रकार, जहां एक वाद में निर्णय किया जाने वाला प्रश्न यह है कि विवादित संपत्ति पर विवाद करने वाले पक्षों में से किसके पास वास्तविक अधिकार है, यह वास्तविक अधिकारों से संबंधित प्रश्न है। लेकिन जहां सवाल यह है कि क्या किसी विशेष पार्टी को सम्मन विधिवत तामील किया गया है या नहीं, यह सवाल मौलिक अधिकारों से नहीं बल्कि प्रक्रियात्मक अधिकारों से संबंधित है। पार्टियों शब्द का तात्पर्य पक्षकारों से है और वे आम तौर पर वादी होते हैं जिनके पास प्रतिवादी के रूप में दूसरे के खिलाफ कार्रवाई का कारण होता है। इस प्रकार, किसी तृतीय पक्ष द्वारा किए गए आवेदन पर न्यायालय द्वारा पारित आदेश डिक्री नहीं माना जाएगा। वाद के पक्षकार उस व्यक्ति को संदर्भित करते हैं जिसके नाम पक्ष के रूप में वाद के निर्धारण के समय दर्ज किए जाते हैं और इसमें एक मध्यस्थ भी शामिल हो सकता है लेकिन इसमें वह व्यक्ति शामिल नहीं होगा जो मुकदमे के दौरान मर गया और जिसका नाम रिकॉर्ड में दर्ज है सूट गलती से इसी तरह, जो पक्ष वाद से हटता है और जिसका नाम काट दिया जाता है, वह वाद का पक्षकार नहीं होता है। पार्टियों शब्द में ऐसा व्यक्ति भी शामिल नहीं है जिसे बनाया गया है।

(4) निर्णायक निर्धारण— डिक्री होने के लिए न्यायालय का निर्णय निर्णायक प्रकृति का होना चाहिए अर्थात् यह उस न्यायालय के संबंध में पूर्ण और अंतिम होना चाहिए जिसने इसे पारित किया है। एक डिक्री दो तरह से अंतिम हो जाती है जब अपील दायर किए बिना अपील दायर करने का समय समाप्त हो जाता है या उच्चतम न्यायालय की डिक्री द्वारा तय किए गए मामले जहां डिक्री जहां तक न्यायालय द्वारा इसे पारित करने के संबंध में है, पूरी तरह से वाद का निपटारा करता है। एक अंतःक्रियात्मक आदेश जो पक्षों के अधिकारों को अंतिम रूप से तय नहीं करता है, एक डिक्री नहीं है। इस प्रकार, स्थगन से इनकार करने वाला आदेश या अपीलीय न्यायालय द्वारा कुछ मुद्दों का निर्णय करने वाला आदेश और अन्य मुद्दों को निर्धारण के लिए ट्रायल कोर्ट में भेजने का आदेश डिक्री नहीं होगा। कोई निर्णय एक डिक्री है या नहीं, इसका निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से इसका सार और सार होगा। यदि संक्षेप में और सार रूप में कोई निर्णय अंतिम और निर्णायक है, तो यह एक डिक्री होगी, अन्यथा नहीं।

(5) औपचारिक अभिव्यक्ति— इस तरह के निर्णय को औपचारिक तरीके से व्यक्त किया जाना चाहिए। फॉर्म की सभी आवश्यकताओं का अनुपालन किया जाना चाहिए। आम तौर पर औपचारिक अभिव्यक्ति का मतलब है कि पीएलए में दावा किए गए किसी भी या सभी राहतों की स्वीकृति या अस्वीकृति और प्रारूप घोषणा में शामिल है। एक डिक्री के रूप में दिया गया ऑर्डर इसे डिक्री नहीं बना देगा, अगर फॉर्म की सभी आवश्यकताओं का पालन नहीं किया जाता है और उसके अनुसार डिक्री तैयार की जाती है। इस तरह के फैसले के खिलाफ कोई अपील नहीं होगी हालांकि, डिक्री का किसी विशेष रूप में होना जरूरी नहीं है। हालांकि, सभी औपचारिक अभिव्यक्तियाँ एक डिक्री की राशि नहीं होंगी, जब तक कि बाद की शर्तों का भी पालन नहीं किया जाता है। जहां ट्रायल कोर्ट ने एक आदेश पारित किया कि मुकदमा सीमा से वर्जित है और शब्दों की अभिव्यक्ति को खारिज करने के लिए उत्तरदायी है षनिहितार्थ द्वारा खारिज किए जाने योग्य का मतलब है कि मुकदमा खारिज कर दिया गया है और यह बर्खास्तगी की औपचारिक अभिव्यक्ति के समान हो सकता है।

प्रारम्भिक डिक्री तथा अन्तिम डिक्री में अन्तर—

प्रारम्भिक डिक्री	अंतिम डिक्री
मुकदमों के मुद्दों में शामिल पक्षों के अधिकारों को निर्धारित करने के लिए अदालत द्वारा दिया गया औपचारिक बयान प्रारम्भिक डिक्री के रूप में जाना जाता है।	अंतिम आदेश से मुकदमों का पूर्ण समाधान हो जाता है तथा भविष्य में निर्णय के लिए कोई मुद्दा नहीं बचता।

न्यायालय पक्षों के अधिकारों का निर्धारण कर सकता है और अंतिम निर्णय दिए जाने की प्रतीक्षा कर सकता है।	अंतिम डिक्री द्वारा पक्षों के अधिकार और दायित्व स्थापित हो जाने के बाद निर्णय लेने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता।
यदि परिस्थितियां बदलती हैं तो प्रारंभिक डिक्री को संशोधित किया जा सकता है।	अंतिम डिक्री को हमेशा प्रारंभिक डिक्री के अनुरूप होना चाहिए।
प्रारंभिक आदेश एक से अधिक बार जारी किया जा सकता है।	एक से अधिक अंतिम आदेश जारी किये जा सकते हैं।
फूलचंद बनाम गोपाल लाल (1967) के अनुसार प्रारंभिक डिक्री एक से अधिक बार जारी की जा सकती है।	शंकर बनाम चंद्रकांत शंकर 1995 के अनुसार , एक से अधिक अंतिम डिक्री हो सकती है

प्रश्न न0 2— प्रलक्षित प्राड्गन्याय के सिद्धान्त की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। क्या प्राड्गन्याय एकपक्षीय डिक्री पर लागू होता है? वर्णन कीजिए।

उत्तर— रचनात्मक रिस जुडिकाटा— सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 में रचनात्मक रिस जुडिकाटा का नियम रिस जुडिकाटा का एक कृत्रिम रूप है। यह प्रावधान करता है कि यदि किसी पक्षकार द्वारा उसके और प्रतिवादी के बीच किसी कार्यवाही में दलील दी गई है, तो उसे उसी मामले के संदर्भ में अगली कार्यवाही में उसी पक्षकार के विरुद्ध दलील देने की अनुमति नहीं दी जाएगी। यह उन सार्वजनिक नीतियों के विरुद्ध है, जिन पर रिस जुडिकाटा का सिद्धांत आधारित है। इसका अर्थ होगा प्रतिवादी को परेशान करना और कठिनाई पहुँचाना। रचनात्मक रिस जुडिकाटा का नियम बार को ऊपर उठाने में मदद करता है। इसलिए इस नियम को रचनात्मक रिस जुडिकाटा के नियम के रूप में जाना जाता है, जो वास्तव में रिस जुडिकाटा के सामान्य सिद्धांतों के संवर्धन का एक पहलू है। उत्तर प्रदेश राज्य बनाम नवाब हुसैन के मामले में, एम एक उप-निरीक्षक था और उसे डी.आई.जी. की सेवा से बर्खास्त कर दिया गया था। उसने उच्च न्यायालय में रिट याचिका दायर करके बर्खास्तगी के आदेश को चुनौती दी। उसने कहा कि आदेश पारित होने से पहले उसे सुनवाई का उचित अवसर नहीं मिला। हालांकि, तर्क को नकार दिया गया और याचिका खारिज कर दी गई। उन्होंने फिर से इस आधार पर याचिका दायर की कि उन्हें आई.जी.पी. द्वारा नियुक्त किया गया था और उन्हें खारिज करने का कोई अधिकार नहीं था। प्रतिवादी ने तर्क दिया कि मुकदमा रचनात्मक रिस जुडिकाटा द्वारा वर्जित था। हालांकि, ट्रायल कोर्ट, प्रथम अपीलीय न्यायालय और साथ ही उच्च न्यायालय ने माना कि मुकदमा रिस जुडिकाटा के सिद्धांत द्वारा वर्जित नहीं था। सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि मुकदमा रचनात्मक रिस जुडिकाटा द्वारा वर्जित था क्योंकि दलील वादी, एम के ज्ञान में थी और वह अपने पहले के मुकदमे में इस तर्क को ले सकता था। रचनात्मक रिस जुडिकाटा के सिद्धांत को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 11 के स्पष्टीकरण पट में शामिल किया गया है। स्पष्टीकरण पट में प्रावधान है कि वे सभी मामले जिन्हें बचाव का आधार बनाया जाना चाहिए था या मुकदमे से जोड़ा जाना चाहिए था, लेकिन छोड़ दिए गए थे, उन्हें भी ऐसे मुकदमे में सीधे या काफी हद तक मुद्दा माना जाएगा। यदि कोई पक्ष मुकदमे के दौरान बचाव या हमले का उचित आधार प्रस्तुत करने में विफल रहता है, तो ऐसा मुद्दा चूककर्ता पक्ष के विरुद्ध तय माना जाता है। प्रत्येक न्यायिक कार्यवाई का आधार कार्यवाई का कारण होता है। जब न्यायालय अंतिम आदेश सुनाता है, तो कार्यवाई का कारण समाप्त माना जाता है। इस प्रकार, राहत का दावा करने के लिए उसी कार्यवाई के कारण को फिर से नहीं उठाया जा सकता है, जिसका दावा प्रारंभिक मुकदमे में किया जाना चाहिए था। कार्यवाई का कारण निर्णय के बाद भी बना नहीं रह सकता है और इसे निर्णय में समाहित माना जाता है।

निमो डेबेट बिस वेक्सारी प्रो ऊना एट ईएडेम कॉसार्स इस कहावत का अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को एक ही कार्य के लिए दो बार अभियोजन का सामना नहीं करना पड़ेगा। इस सिद्धांत का उद्देश्य अपराधी को तुच्छ मुकदमेबाजी से बचाना है। आपराधिक न्याय प्रणाली का उद्देश्य सुधार करना है, अपराधी के खिलाफ परेशान करने वाला मुकदमा नहीं।

रेस जुडिकाटा प्रो वेरिटेट एकपिटुर— न्यायिक प्राधिकारी के निर्णय को विधिवत रूप से सही माना जाना चाहिए। यदि न्यायिक निर्णय को निर्णायक के रूप में सम्मान नहीं दिया जाता है, तो अनिश्चितकालीन मुकदमेबाजी होगी, जिससे भ्रम और अराजकता पैदा होगी।

इंटररेस्ट रिपब्लिका यूट सिट फिनिस लिटियम— राज्य का हित मुकदमेबाजी के अंत में निहित है। यह देश की सार्वजनिक नीति का एक हिस्सा है कि अदालतों पर एक ही विषय पर बार-बार मुकदमे दायर करने का बोझ न पड़े। इन तीन सिद्धांतों का न्यायशास्त्रीय महत्व रेस जुडिकाटा को एक सार्वभौमिक अवधारणा बनाता है।

प्रत्यक्ष और सारभूत रूप से मुद्दा— केवल इसलिए कि कोई मामला किसी पूर्व मुकदमे में मुद्दा था, रिस जुडिकाटा के सिद्धांत को लागू करने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। यह आवश्यक है कि मामला पिछले मुकदमे में प्रत्यक्ष और

सारभूत रूप से मुद्दा हो। इसे एक पक्ष द्वारा आरोपित किया जाना चाहिए और दूसरे पक्ष द्वारा स्वीकार या अस्वीकार किया जाना चाहिए। स्वीकार या अस्वीकार स्पष्ट रूप से या आवश्यक निहितार्थ द्वारा किया जा सकता है।

रिस ज्यूडिकेटा का सिद्धांत तब लागू होता है जब दो मुकदमों में मुद्दे प्रकृति में समान होते हैं। इस प्रकार, भले ही दो मुकदमों में दावा किए गए कार्रवाई, उद्देश्य और राहत का कारण अलग-अलग हो, रिस ज्यूडिकेटा के सिद्धांत को तब तक लागू किया जा सकता है जब तक कि मुद्दे समान हों। एक मुकदमे में कुछ सहायक मुद्दे भी शामिल हो सकते हैं जो प्राथमिक मुद्दों के लिए गौण हैं। वे मुद्दे जो सारभूत और प्रत्यक्ष मुद्दों के सहायक हैं उन्हें संपार्श्विक या आकस्मिक मुद्दे के रूप में जाना जाता है। इन संपार्श्विक या आकस्मिक मुद्दों के संबंध में रिस ज्यूडिकेटा के सिद्धांत को लागू नहीं किया जा सकता है।

गुण-दोष के आधार पर निर्णय- किसी न्यायालय का निर्णय तभी रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य करेगा जब वह मामले के गुण-दोष के आधार पर दिया गया हो। इस प्रकार, यदि कोई मुकदमा अधिकार-क्षेत्र की अनुपस्थिति के कारण खारिज कर दिया जाता है या यदि न्यायालय द्वारा समझौता डिक्री पारित की जाती है, तो ऐसी बर्खास्तगी या मुकदमा रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य नहीं करेगा। इसी तरह, यदि कोई मुकदमा प्रक्रियात्मक आधारों जैसे कि पक्षों के गलत संयोजन या सुरक्षा प्रदान करने में विफलता के कारण खारिज किया जाता है, तो ऐसा निर्णय रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य नहीं करेगा।

प्रश्न न0 3- पक्षकारों के असंयोजन तथा कुसंयोजन से आप क्या समझते हैं? क्या इस कारण से वाद विफल हो सकता है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर- उपरोक्त बिन्दु पर सिविल प्रक्रिया के आदेश 1 और 9 में उपरोक्त उपबन्ध हैं-

कुसंयोजन या असंयोजन- कोई वाद पक्षकारों के कुसंयोजन या असंयोजन विफल न किया जायेगा और न्यायालय वहाँ तक जहाँ तक कि वस्तुतः उसके अपने समकक्ष वाले पक्षकार के अधिकारों और हितों का सवाल है विवादास्पद विषय पर निपटारा प्रत्येक वाद में करेगा।

गलत वादी के नाम में वाद-(1) जहाँ कि कोई वाद या वादी के रूप में गलत व्यक्ति के नाम संस्थित किया गया है, या जहाँ कि यह संदिग्ध है कि क्या यह सही वादी के नाम से संस्थित किया गया या नहीं, वहाँ यदि वाद के किसी प्रक्रम में न्यायालय को समाधान हो जाता है कि वाद सद्भावनाजन्य भूल से संस्थित किया गया और कि विवाद में वास्तविक विषय के अवधारणा के लिए ऐसा करना आवश्यक है, तो वह ऐसे निबन्धनों पर, जिसे कि वह ठीक समझे, किसी अन्य व्यक्ति को वादी के रूप में प्रतिस्थापित किये जाते या जोड़े जाने के लिए आदेश वाद के किसी प्रक्रम में दे सकेगा।

न्यायालय पक्षकारों का नाम निकाल या जोड़ सकेगा-(2) न्यायालय कार्यवाहियों के किसी प्रक्रम में या दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबन्धनों पर जो कि न्यायालय से न्याय प्रतीत हो, आदेश दे सकेगा कि चाहे वादी के रूप में या प्रतिवादी के रूप में अनुचित रूप से संयुक्त किये गये किसी पक्षकार का नाम निकाल दिया जाय और किसी व्यक्ति का नाम, जिस वादी या प्रतिवादी के संयुक्त किया जाना चाहिए था। न्यायालय के सामने जिसकी उपस्थिति वाद में के अन्तर्ग्रस्त सब प्रश्नों का भावी के रूप में और पूरी तरह न्याय निर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय के समर्थ करने की दृष्टि से आवश्यक है, जोड़ दिया जाय।

(3) कोई व्यक्ति ऐसे वादी के रूप में, जो कि वाद प्रतिनिधि के बिना ला रहा है या ऐसे वादी प्रतिनिधि के रूप में जो कि बिना नियोग्यता के अधीन है अपनी सम्मति के बिना जोड़ा जायेगा।

जहाँ कि प्रतिवादी जाय वहाँ वाद-पत्र संशोधित किया जायेगा- (4) जहाँ कि प्रतिवादी जोड़ा जाता है वहाँ जब तक कि न्यायालय अन्यथा निर्दिष्ट न करे वाद-पत्र ऐसे रीति से संशोधित किया जायेगा जैसा कि आवश्यक हो और वाद-पत्र की संशोधित प्रतियों की तामील नये-नये प्रतिवादी और यदि न्यायालय ठीक समझे तो मूल प्रतिवादी पर भी की जायेगी।

(5) भारतीय मर्यादा अधिनियम, 1877 की धारा 22 के उपबन्धों के अधीन रहते हुये जहाँ तक कि प्रतिवादी के रूप में जोड़े गये किसी व्यक्ति का सवाल है वहाँ तक कार्यवाहियों के बारे में यह समझा जायेगा कि वह समनों की तामील पर ही प्रारम्भ हुई है। (दीवानी कार्याविधि संहिता का आदेश 7 नियम 10)

प्रश्न न0 4- अन्तर अभिवचनीय वाद क्या है? यह कब और किसके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है? वर्णन कीजिए।

उत्तर- अन्तराभिवाची वाद से तात्पर्य -अन्तराभिवाद वाद वह वाद है ए जिसमे वास्तविक विवाद प्रतिवादियों के बीच रहता है और वादी वाद की विषयवस्तु में कोई हित नहीं रखता है। इस वाद में प्रतिवादी ही एक दूसरे के विरुद्ध अभिवचन करते है और ऐसे ऋण या दावों के सम्बन्ध में अभिवचन करते है जिसमें वादी अपना कोई हित नहीं रखता और जिसे वह श् अधिकारी प्रतिवादी श् य जो उस संपत्ति के हक का अधिकारी है द्ध को प्रदान करने के लिए तैयार होता है ।

मुल्ला के अनुसार- प्रत्येक अंतराभिवाची वाद में केवल प्रतिवादियों के बीच विवारित कुछ ऋण या धन अथवा अन्य संपत्ति होनी चाहिए और वादी एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उस धन तथा संपत्ति के भारो और खर्चों के अतिरिक्त कोई दूसरा हित नहीं रखता है और जो उस संपत्ति को प्रतिवादी को देने अथवा परिदत्त करने के लिए तैयार हो , जिसे न्यायालय उस संपत्ति का हकदार घोषित करें ।

विषयवस्तु - ऋण , धनराशि, चल अथवा अचल संपत्ति का विवाद।

आवश्यक शर्तें

- (1) कुछ प्रतिवादी एक दूसरे के विरुद्ध, जैसे — अ ए ब ए स एक दूसरे के विरुद्ध ।
- (2) उस संपत्ति का स्वामी होने का दावा करते हैं ए जैसे — हीरे की अंगूठी का स्वामी होने का दावा करते हैं ।
- (3) जो किसी अन्य व्यक्ति के पास रखी है, जैसे — वादी द के पास रखी है ।
- (4) उस अन्य व्यक्ति का विवादित संपत्ति में प्रभार एवं खर्चों के अतिरिक्त कोई अन्य दावा नहीं है ए जैसे — वादी द का 1000 रुपये रखने के अलावे कोई अन्य दावा नहीं है ।
- (5) वह अन्य व्यक्ति उस संपत्ति को असली स्वामी को देने को तैयार है, जैसे — वादी द हीरे की अंगूठी असली स्वामी को देने को तैयार है ।
- (6) ऐसी परिस्थिति में वह अन्य व्यक्ति किसी पचड़े में पड़ने से बचने के लिए उन सभी प्रतिवादियों के विरुद्ध एक अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित करेगा, जैसे — वादी द किसी पचड़े में पड़ने से बचने के लिए उन सभी प्रतिवादियों के विरुद्ध एक अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित करेगा । जिसमें वह न्यायालय से संपत्ति का असली स्वामी निर्णीत करने की प्रार्थना करेगा एवं अपने भार एवं खर्चों की मांग कर सकेगा छ परन्तु जहां ऐसा कोई वाद लंबित है जिसमें सभी पक्षकारों के अधिकार उचित रूप से निर्णीत किये जा सकते हैं, वहां कोई ऐसा अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित नहीं किया जायेगा ।

प्रक्रिया —

प्रक्रिया — आदेश 35 में दिया गया है ।

आदेश 35 नियम 1 अंतराभिवाची वाद के वाद पत्र में आवश्यक कथनों के अतिरिक्त निम्नलिखित कथन शामिल किये जायेंगे—

(1) यह कथन होगा कि वादी प्रभारों एवं खर्चों के लिए दावा करने से भिन्न किसी हित का दावा विवाद की विषय वस्तु में नहीं करता ।

(2) यह कथन होगा कि प्रतिवादीगण पृथक दृ पृथक दावा कर रहे हैं ।

(3) यह कथन होगा कि वादी या प्रतिवादी के मध्य कोई दुरभिसंधि नहीं है ।

आदेश 35 नियम 2 दावाकृत वस्तु का न्यायालय में जमा किया जाना — जहां दावाकृत वस्तु ऐसी है कि वह न्यायालय में जमा की जा सकती है या न्यायालय की अभिरक्षा में रखी जा सकती है तो न्यायालय आदेशित कर सकेगा कि वादी वाद में किसी भी आदेश का हकदार हो सकने से पूर्व उसे जमा कर दे या रख से ।

आदेश 35 नियम 3 प्रक्रिया जहां प्रतिवादी वादी पर वाद चला रहा है — जहां अंतराभिवाची वाद के प्रतिवादियों में से कोई प्रतिवादी ए वादी पर ऐसे वाद की विषय दृ वस्तु की बावत वास्तव में वाद चला रहा है वहां वह न्यायालय जिसमें वादी के विरुद्ध वाद लंबित है ए उस न्यायालय द्वारा जिसमें अन्तराभिवाची वाद संस्थित किया गया है, इतिला दिए जाने पर वादी के विरुद्ध कार्यवाही को रोक देगा ।

आदेश 35 नियम 4 प्रथम सुनवाई में प्रक्रिया — प्रथम सुनवाई पर न्यायालय वादी को सभी दायित्वों से उन्मोचित कर सकता है । न्यायालय उसे वाद व्यय दिलाकर वाद से पृथक कर सकता है ।

यदि न्याय या सुविधा की दृष्टि से आवश्यक हो तो न्यायालय सभी पक्षों को वाद के निस्तारण होने तक वाद में बनाए रख सकता है ।

आदेश 35 नियम 5 अंतराभिवाची वाद कौन प्रस्तुत नहीं कर सकता है— आदेश 35 नियम 5 के अधीन कोई अभिकर्ता अपने मालिक पर या अभिधारी अपने भूस्वामी पर अंतराभिवाची वाद संस्थित नहीं कर सकता है ।

जहां ऐसा अन्य व्यक्ति ऐसे भू स्वामी या मालिक के माध्यम से दावा कर रहा हो वहां स्थिति भिन्न होगी ए ऐसे मामलों में अभिकर्ता या अभिधारी अंतराभिवाची वाद प्रस्तुत कर सकेगा ।

अंतराभिवाची वाद का दृष्टांत—

(1) **A** तथा **B** द्वारा किसी ऐसी संपत्ति के लिए दावा किया जाता है जो **C** के कब्जे में है और **C** उस संपत्ति में किसी हित का दावा नहीं करता है और वह उस व्यक्ति को संपत्ति देने के लिए तैयार तथा इच्छुक है जो व्यक्ति न्यायालय द्वारा ऐसी संपत्ति प्राप्त करने के लिए अधिकृत घोषित किया जाये ।

A वादी के रूप में **A** तथा **B** को प्रतिवादी बनाते हुए अंतराभिवाची वाद संस्थित करेगा इस प्रकार संस्थित किये गये वाद से **ष ब् ष** को उसके द्वारा किये गये प्रभार या वाद व्यय का उपबंध करने के पश्चात प्रथम सुनवाई पर वाद से हटा दिया जाएगा तथा **A** एवं **B** को अंतराभिवचन करने के लिए वाद में इस प्रकार स्थापित किया जाएगा मानो एक उसमें वादी हो और दूसरा प्रतिवादी ।

किन्तु वादी **C** को वाद से हटाने के पूर्व उसे न्यायालय में विवादित संपत्ति जमा करनी पड़ेगी ।

नेशनल इश्योरेंस बनाम धीरेन्द्र नाथ के वाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा है कि **C** ; वादी) अपना नाम हटवाने के लिए न्यायालय में आवेदन कर सकता है ।

(2) आभूषण का बाक्स अपने अभिकर्ता के रूप में **B** के पास **A** जमा करता है, **C** का यह अभिकथन है कि आभूषण **A** ने उससे सदोष अभिप्राप्त किये थे और वह उन्हें **B** से लेने का दावा करता है । **A** और **C** के बीच **B** अंतराभिवाची वाद संस्थित नहीं कर सकता है ।

प्रश्न न0 5— दीवानी प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत दीवानी प्रकृति के वादों का उपर्युक्त उदाहरणों सहित समझाइए।

उत्तर— सिविल प्रकृति के मुकदमों का अर्थ और दायरा— सी.पी.सी. मुकदमे को एक सिविल कार्यवाही के रूप में परिभाषित करता है, जो न्यायालय के समक्ष शिकायत या लिखित बयान प्रस्तुत करके शुरू की जाती है। सिविल प्रकृति का मुकदमा एक कानूनी कार्यवाई को संदर्भित करता है जो सिविल कानून के दायरे में आता है और सी.पी.सी. द्वारा शासित होता है। सिविल कानून में विवादों की एक विस्तृत शृंखला शामिल है, जिसमें संपत्ति, अनुबंध, अपकृत्य, पारिवारिक कानून आदि से संबंधित विवाद शामिल हैं। सी.पी.सी. के अंतर्गत सिविल प्रकृति के मुकदमों का दायरा व्यापक है और इसमें विभिन्न प्रकार के सिविल विवाद शामिल हैं। इनमें धन की वसूली के लिए मुकदमे, अनुबंधों के विशिष्ट निष्पादन के लिए मुकदमे, अधिकारों की घोषणा के लिए मुकदमे, निषेधाज्ञा के लिए मुकदमे, संपत्ति के विभाजन के लिए मुकदमे, क्षति के लिए मुकदमे और कई अन्य मुकदमे शामिल हो सकते हैं। सी.पी.सी. इन मुकदमों के संचालन के लिए एक प्रक्रियात्मक ढांचा प्रदान करता है, यह सुनिश्चित करता है कि सिविल विवादों को एक व्यवस्थित और निष्पक्ष कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से हल किया जाए।

सिविल प्रकृति के मुकदमों के प्रकार—

सी.पी.सी. विवाद की प्रकृति के आधार पर सिविल प्रकृति के मुकदमों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत करता है। सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के कुछ सामान्य प्रकार के मुकदमों का विवरण इस प्रकार है—

(1) **धन की वसूली के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जिनमें एक पक्ष दूसरे पक्ष से बकाया धनराशि वसूलना चाहता है। यह किसी अनुबंध, ऋण या किसी अन्य कानूनी दायित्व से उत्पन्न हो सकता है।

(2) **अनुबंधों के विशिष्ट निष्पादन के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष द्वारा अनुबंध के निष्पादन को लागू करने की मांग करता है। विशिष्ट निष्पादन एक विवेकाधीन उपाय है, और न्यायालय कुछ परिस्थितियों में इसे प्रदान कर सकता है।

(3) **अधिकारों की घोषणा के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जिनमें कोई पक्ष न्यायालय से अपने कानूनी अधिकारों या स्थिति की पुष्टि करने के लिए घोषणा चाहता है। उदाहरण के लिए, किसी संपत्ति के स्वामित्व की घोषणा के लिए मुकदमा।

(4) **निषेधाज्ञा के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं, जिनमें एक पक्ष न्यायालय से किसी अन्य पक्ष को कोई निश्चित कार्य करने से रोकने या उसे कोई निश्चित कार्य करने के लिए बाध्य करने का आदेश मांगता है। परिस्थितियों के आधार पर निषेधाज्ञा अस्थायी (अंतरिम) या स्थायी हो सकती है।

(5) **संपत्ति के विभाजन के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जहाँ संपत्ति के सह-मालिक आपस में संपत्ति का विभाजन चाहते हैं।

(6) **क्षतिपूर्ति के लिए वाद—** ये ऐसे वाद हैं, जिनमें एक पक्ष दूसरे पक्ष के गलत कार्य के कारण हुई हानि या क्षति के लिए क्षतिपूर्ति की मांग करता है।

सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के मुकदमों को नियंत्रित करने वाले प्रावधान—

सी.पी.सी. में कई प्रावधान हैं जो सिविल प्रकृति के मुकदमों को दायर करने, प्रक्रिया और निपटान को नियंत्रित करते हैं। सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के मुकदमों से संबंधित कुछ प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं—

अधिकार क्षेत्र— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों पर विचार करने और उन पर सुनवाई करने के लिए न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करता है। यह प्रादेशिक अधिकार क्षेत्र, आर्थिक अधिकार क्षेत्र (दावे के मूल्य के आधार पर) और विषय-वस्तु अधिकार क्षेत्र (विवाद की प्रकृति के आधार पर) को निर्दिष्ट करता है।

दलीलें— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में वादपत्र (वह दस्तावेज जिसके द्वारा मुकदमा शुरू किया जाता है) और लिखित बयान (वादपत्र का जवाब) दाखिल करने के नियम निर्धारित करता है। यह वादपत्र की आवश्यक सामग्री निर्धारित करता है, जैसे कि इसमें शामिल पक्ष, मामले के तथ्य और मांगी गई राहत।

साक्ष्य— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में साक्ष्य प्रस्तुत करने और उसे स्वीकार्य करने के नियम निर्धारित करता है। इसमें गवाहों की जांच, दस्तावेजों को प्रस्तुत करने और सबूत पेश करने के बोझ से संबंधित प्रावधान शामिल हैं।

अंतरिम आदेश— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में मुकदमों के लंबित रहने के दौरान पक्षों के अधिकारों की रक्षा के लिए अंतरिम आदेश देने का प्रावधान करता है। इसमें अस्थायी निषेधाज्ञा, रिसीवर की नियुक्ति और संपत्ति की कुर्की शामिल हैं।

अपील— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में पारित आदेशों और डिक्री के खिलाफ अपील दायर करने और निपटाने की प्रक्रिया की रूपरेखा तैयार करता है। यह उच्च न्यायालयों के अपीलीय क्षेत्राधिकार, अपील के आधार और अपीलीय न्यायालयों की शक्ति पर सीमाओं से संबंधित नियम निर्धारित करता है।

डिक्री का निष्पादन— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में पारित डिक्री के प्रवर्तन का प्रावधान करता है। इसमें धन के भुगतान, संपत्ति की डिलीवरी और न्यायालय द्वारा दी गई अन्य राहतों के लिए डिक्री के निष्पादन से संबंधित प्रावधान शामिल हैं।

सिविल प्रकृति के मुकदमों का महत्व और महत्व— भारतीय कानूनी प्रणाली में सिविल प्रकृति के मुकदमे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि वे पक्षों के बीच सिविल विवादों को सुलझाने के लिए एक कानूनी तंत्र प्रदान करते हैं। वे कई कारणों से महत्वपूर्ण हैं—

अधिकारों और हितों की रक्षा— सिविल प्रकृति के मुकदमे पक्षों को अपने कानूनी अधिकारों का दावा करने और अदालत से उचित राहत पाने की अनुमति देते हैं। वे संपत्ति, अनुबंध, अपकृत्य, पारिवारिक कानून और अन्य सिविल मामलों से संबंधित विवादों को हल करने के लिए एक मंच प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि पक्षों को अपना मामला पेश करने और उचित समाधान प्राप्त करने का अवसर मिले।

कानूनी प्रक्रियाओं का पालन सुनिश्चित करना— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों के संचालन के लिए एक व्यापक प्रक्रियात्मक ढांचा तैयार करता है, जिसमें अधिकार क्षेत्र, दलीलें, साक्ष्य, अंतरिम आदेश, अपील और डिफ्री के निष्पादन से संबंधित प्रावधान शामिल हैं। यह सुनिश्चित करता है कि सिविल विवादों को व्यवस्थित और व्यवस्थित तरीके से हल किया जाए, जिससे कानूनी प्रक्रिया की अखंडता और निष्पक्षता बनी रहे।

न्याय तक पहुँच को सुगम बनाना— सी.पी.सी. के तहत दीवानी प्रकृति के मुकदमों को उन पक्षों को न्याय तक पहुँच प्रदान करने के लिए डिज़ाइन किया गया है, जिन्होंने कानूनी रूप से गलत काम किया हो। वे पक्षों को उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति या पृष्ठभूमि की परवाह किए बिना औपचारिक कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से अपनी शिकायतों के निवारण की मांग करने का एक रास्ता प्रदान करते हैं।

कानूनी मिसाल कायम करना— सिविल प्रकृति के मुकदमों में पारित निर्णय और फैसले अक्सर कानूनी मिसाल के तौर पर काम करते हैं जो भविष्य के मामलों में कानून की व्याख्या और आवेदन का मार्गदर्शन करते हैं। ये कानूनी मिसालें कानूनी न्यायशास्त्र को विकसित करने और विकसित करने में मदद करती हैं, जिससे कानूनी प्रणाली में स्थिरता और पूर्वानुमान सुनिश्चित होता है।

विवादों को सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाना— सिविल मुकदमे भी पक्षों को वैकल्पिक विवाद समाधान तंत्र जैसे कि मध्यस्थता, सुलह और पंचनिर्णय के माध्यम से अपने विवादों को सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने का अवसर प्रदान करते हैं, जिन्हें सीपीसी द्वारा प्रोत्साहित और सुगम बनाया जाता है। इससे न्यायालयों पर बोझ कम करने में मदद मिलती है और विवादों का समय पर और लागत प्रभावी समाधान को बढ़ावा मिलता है।

कानून के शासन को कायम रखना— सी.पी.सी. के तहत दीवानी प्रकृति के मुकदमे भारतीय कानूनी व्यवस्था में कानून के शासन को कायम रखने के लिए आवश्यक हैं। वे विवादों को निष्पक्ष, निष्पक्ष और पारदर्शी तरीके से हल करने के लिए एक तंत्र प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि पक्षों को उनके कार्यों के लिए जवाबदेह ठहराया जाता है और कानूनी अधिकारों की रक्षा की जाती है।

सी.पी.सी. की धारा 9

सिविल प्रक्रिया संहिता (CPC) की धारा 9 भारत के सिविल प्रक्रिया कानूनों में एक प्रावधान है जो किसी मुकदमे पर विचार करने के लिए अदालतों के अधिकार क्षेत्र से संबंधित है। **CPC** की धारा 9 इस प्रकार है—

“9. न्यायालयों को सभी सिविल वादों पर विचारण करने का अधिकार होगा, जब तक कि उन पर रोक न लगाई गई हो। न्यायालयों को (इसमें निहित प्रावधानों के अधीन) सिविल प्रकृति के सभी वादों पर विचारण करने का अधिकार होगा, सिवाय उन वादों के जिनका संज्ञान स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित है।” सी.पी.सी. की धारा 9 सामान्य सिद्धांत स्थापित करती है कि भारत में सिविल न्यायालयों को सभी सिविल मुकदमों पर विचार करने और उन पर सुनवाई करने का अधिकार है, जब तक कि किसी विशेष मुकदमे का संज्ञान कानून द्वारा स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित न हो। इसका मतलब यह है कि, डिफॉल्ट रूप से, भारत में सिविल न्यायालयों के पास सिविल मुकदमों की सुनवाई और निर्णय करने का अधिकार है, जब तक कि कोई विशिष्ट कानूनी प्रावधान न हो जो उन्हें ऐसा करने से स्पष्ट रूप से या निहित रूप से रोकता हो। सी.पी.सी. की धारा 9 में “स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित” अभिव्यक्ति का अर्थ है कि न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर प्रतिबंध किसी कानून या कानूनी प्रावधान में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है, या यह मुकदमे की प्रकृति, इसमें शामिल पक्षों, या उनके बीच कानूनी संबंध से अनुमानित या निहित हो सकता है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई विशिष्ट कानून या कानून है जो न्यायालय को किसी विशेष प्रकार के मुकदमे की सुनवाई करने से रोकता है, जैसे कि किसी विशेष न्यायाधिकरण के अनन्य क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आने वाले मामले से संबंधित मुकदमा, तो न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर स्पष्ट रूप से रोक लगाई जा सकती है। दूसरी ओर, यदि कोई कानूनी सिद्धांत या सिद्धांत है जो सुझाव देता है कि न्यायालय को किसी विशेष प्रकार के मुकदमे पर विचार नहीं करना चाहिए, भले ही कोई स्पष्ट प्रावधान न हो, तो न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर निहित रूप से रोक लगाई जा सकती है।

सी.पी.सी. की धारा 9 एक महत्वपूर्ण प्रावधान है जो भारत में सिविल न्यायालयों के लिए अधिकारिता का सामान्य नियम स्थापित करता है तथा यह निर्धारित करने के लिए आधार का कार्य करता है कि किसी न्यायालय को किसी विशेष सिविल मुकदमे की सुनवाई करने का अधिकार है या नहीं।

प्रश्न न0 6— अंकिचन वादों में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। क्या प्रतिवादी को अंकिचन के रूप में प्रतिवाद करने की अनुमति दी जा सकती है? वर्णन कीजिए।

उत्तर— ‘गरीब व्यक्ति’ शब्द का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति को संदर्भित करता है, जो अत्यधिक गरीबी, दरिद्रता (इम्पॉवरिशमेंट) से पीड़ित है, या जिसके पास सामान्य जीवन में आवश्यक बुनियादी संसाधनों की कमी है। कानूनी भाषा में, एक गरीब व्यक्ति के पास न्यायालय शुल्क का भुगतान करने की वित्तीय क्षमता नहीं होती है। ऐसे व्यक्तियों को न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से, नागरिक प्रक्रिया संहिता (कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर), 1908 के आदेश 33 के

तहत प्रावधान पेश किए गए थे। कोई भी व्यक्ति जो एक निर्धन व्यक्ति के रूप में प्रतिनिधित्व करना चाहता है, उसे सक्षम न्यायालय के समक्ष एक आवेदन दाखिल करना होता है, जिसमें वह खुद को एक निर्धन व्यक्ति घोषित करता है। यदि न्यायालय ऐसे आवेदन से संतुष्ट होता है और इस बात से सहमत होता है कि ऐसे व्यक्ति के पास न्यायालय शुल्क देने का कोई साधन नहीं है, तो न्यायालय ऐसे व्यक्ति को निर्धन व्यक्ति घोषित करेगा। मुख्य रूप से, "निर्धन व्यक्ति" अभिव्यक्ति की शुरुआत से पहले, "गरीब" शब्द का इस्तेमाल समाज के वंचित वर्ग को दर्शाने के लिए किया जाता था। हालांकि, बाद में इसे "निर्धन व्यक्ति" शब्द से प्रतिस्थापित किया गया। नागरिक प्रक्रिया संहिता के आदेश 33 के नियम 1-18, निर्धन व्यक्तियों द्वारा दायर किए गए मुकदमों से संबंधित है।

(क) संहिता द्वारा अकिंचन वाद लाने के लिए मान्य व्यक्ति— जैसे ही अदालत में एक दीवानी मुकदमा दायर किया जाता है, वादी(ओं) को, अपना वाद दायर करते समय, न्यायालय शुल्क अधिनियम (कोर्ट फीस एक्ट), 1870 द्वारा निर्देशित अपेक्षित अदालत शुल्क जमा करना आवश्यक होती है। हालांकि, नागरिक प्रक्रिया संहिता का आदेश 33 आवश्यक अदालती शुल्क का भुगतान करने के दायित्व से निर्धन व्यक्तियों को मुक्त करके उन्हें इससे बचाता है। इसके बाद यह ऐसे व्यक्तियों को भिखारी के रूप में मुकदमा चलाने की अनुमति देता है, जो सीपीसी के आदेश 33 के नियम 1 के तहत कुछ शर्तों के अधीन होते हैं।

वादी की अकिंचन की जाँच के लिए प्रक्रिया— सबसे पहले न्यायालय का मुख्य कार्यालय पदाधिकारी इस बात की जाँच करेगा कि वादी अकिंचन है या नहीं। नियम 1 (क) यदि वादी ने अकिंचन-वाद लाने की अनुमति के लिये आवेदन करने के बाद किन्तु उसके निर्णय के पहले कोई सम्पत्ति अर्जित कर ली, तो ऐसी सम्पत्ति ऐसी जाँच करने के लिये ध्यान में रखा जायेगा। नियम की व्याख्या 2 यदि वादी ने प्रतिनिधिक हैसियत से वाद दायर किया है तो उस साधन के सन्दर्भ में, जो उसके कब्जे में उस हैसियत में है, इस प्रश्न का निर्णय किया जायेगा कि वह अकिंचन है या नहीं। नियम की व्याख्या 3 यदि न्यायालय ठीक समझता है तो वह आवेदक का या उसके प्रतिनिधि का, आवेदक की सम्पत्ति और उसके दावा के गुणों के सम्बन्ध में परीक्षण कर सकेगा। नियम 4 कम्पनी भी निर्धन वाद ला सकती है क्योंकि वह विधिक व्यक्ति होता है।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने **यूनियन बैंक ऑफ इंडिया बनाम खादर इंटरनेशनल कंस्ट्रक्शन मामले** में निर्धन व्यक्ति की परिभाषा पर चर्चा की। न्यायालय ने पाया कि निर्धन व्यक्ति वह है जिसके पास पर्याप्त मात्रा में (डिक्री के निष्पादन में कुर्की से छूट प्राप्त संपत्ति और मुकदमे की विषय-वस्तु के अलावा) नहीं है, जिससे वह ऐसे मुकदमे में वादी के लिए कानून द्वारा निर्धारित शुल्क का भुगतान कर सके। यदि ऐसा कोई शुल्क निर्धारित नहीं है, तो यदि ऐसा व्यक्ति डिक्री के निष्पादन में कुर्की से छूट प्राप्त संपत्ति और मुकदमे की विषय-वस्तु के अलावा एक हजार रुपये की संपत्ति का हकदार नहीं है, तो वह निर्धन व्यक्ति होगा।

ए.ए. हाजा मुनिउद्दीन बनाम भारतीय रेलवे के मामले में अदालत ने कहा कि "न्याय तक पहुंच से किसी व्यक्ति को केवल इसलिए इनकार नहीं किया जा सकता है कि उसके पास निर्धारित शुल्क का भुगतान करने का साधन नहीं है।" नियम 1 हमें एक निर्धन व्यक्ति की परिभाषा देता है। कोई भी व्यक्ति जिसके पास न्यायालय शुल्क अधिनियम द्वारा निर्धारित अपेक्षित शुल्क का भुगतान करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है। हालांकि, नियम 1 में यह भी कहा गया है कि पर्याप्त साधनों पर विचार करते हुए, एक निर्धन व्यक्ति के पास संपत्ति के मूल्यांकन को डिक्री के निष्पादन और मुकदमे की विषय-वस्तु में अटैचमेंट से छूट दी जाएगी। ऐसी छूट प्राप्त संपत्ति, व्यक्तियों के लिए जीवन यापन की मूलभूत आवश्यकता है। इस प्रकार, कानून के अनुसार, इसे अटैच करने की अनुमति नहीं है। ऐसे मामलों में जहां न्यायालय शुल्क अधिनियम द्वारा ऐसा कोई शुल्क निर्धारित नहीं किया गया है और यदि आवेदक के पास एक हजार रुपये की संपत्ति नहीं है, या जहां संपत्ति की कीमत एक हजार रुपये से कम है, तो ऐसे मामले में उस व्यक्ति को एक निर्धन व्यक्ति माना जाएगा। हालांकि, इस नियम का वही अपवाद है जो ऊपर बताया गया है। इसमें कहा गया है कि संपत्ति के मूल्यांकन की गणना करते समय नागरिक प्रक्रिया संहिता की धारा 60 को ध्यान में रखना होगा।

आवेदन की अस्वीकृति—

सीपीसी के आदेश 33 के नियम 5 के अनुसार, अदालत निम्नलिखित मामलों में एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति मांगने वाले आवेदन को प्रथम दृष्टया खारिज कर देगी—

(1) ऐसे मामले में जहां आवेदन निर्धारित तरीके में तैयार और प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यहां, 'निर्धारित तरीके' शब्द का अर्थ है कि आवेदन को आदेश गगण के नियम 2 और नियम 3 का पालन करना चाहिए। नियम 2 और नियम 3 क्रमशः आवेदन की विषय-वस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण से संबंधित हैं।

(2) यदि आवेदक निर्धन व्यक्ति नहीं है तो आवेदन न्यायालय द्वारा अस्वीकार किया जा सकता है।

(3) अदालत द्वारा आवेदन को तब खारिज किया जा सकता है जब आवेदक ने आवेदन की प्रस्तुति से दो महीने के भीतर धोखाधड़ी से किसी संपत्ति का निपटान किया हो। इसे तब भी खारिज किया जा सकता है जब आवेदक केवल एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने के लिए अदालत से अनुमति लेने के उद्देश्य से बेईमानी से आवेदन करता है।

(4) अदालत के पास एक ऐसे मामले में एक निर्धन व्यक्ति द्वारा दायर आवेदन को खारिज करने की शक्ति है, जहां कार्रवाई का कोई कारण नहीं है।

(5) ऐसे मामले में, जहां आवेदक ने किसी तीसरे पक्ष के साथ एक समझौता किया है और ऐसा समझौता मुकदमे की विषय वस्तु से संबंधित है जिसमें अन्य पक्ष (आवेदक के अलावा) ब्याज प्राप्त करता है, तो, यह अस्वीकृति के कारणों में से एक है। यह अदालत को धोखा देने के लिए आवेदक के इरादे को दर्शाता है।

(6) आवेदन की अस्वीकृति तब की जाती है जब आरोपों से संकेत मिलता है कि मुकदमा किसी भी कानून द्वारा वर्जित है।

(7) आवेदन की अस्वीकृति उन मामलों में की जाती है जहां कोई अन्य व्यक्ति आवेदक के साथ मुकदमे में आर्थिक रूप से मदद करने के लिए एक समझौता करता है।

धनलक्ष्मी बनाम सरस्वती के मामले में, वादपत्र का मूल्यांकन कम पाया गया था। इसलिए, इसे उचित मूल्यांकन और अदालत शुल्क के साथ अदालत में पेश करने के लिए वापस कर दिया गया था। ऐसा करने के लिए एक महीने का समय दिया गया और वादी ने निर्धारित अवधि के भीतर वाद दायर किया था। इसके बाद, याचिका को उप-न्यायालय में एक और याचिका के साथ पेश किया गया जिसमें निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा करने की अनुमति मांगी गई थी, जिस पर अदालत ने देखा कि याचिका आदेश गगण के नियम 1 के तहत दायर की गई थी, लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि आवेदन नियम 2 के तहत दायर किया गया था। क्योंकि आदेश 33 सीपीसी के नियम 5 के अनुसार निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा दायर करने की अनुमति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सीपीसी के आदेश 33 नियम 5 और आदेश 7 नियम 11 के बीच एक समानता खींची गई थी। जबकि आदेश 7 नियम 11 का उपयोग वादपत्र को अस्वीकार करने में किया जाता है और आदेश 33 का नियम 5 निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा करने की अनुमति के लिए दायर एक आवेदन की अस्वीकृति से संबंधित है।

(1) आदेश 33 नियम 6 में प्रावधान है कि अदालत को विपक्षी और सरकारी वकील दोनों को नोटिस जारी करना आवश्यक है। जिसके बाद एक दिन तय किया जाता है, जिस पर साक्ष्य प्राप्त होते हैं। ऐसे दिन आवेदक अपने आवेदन के लिए प्रमाण प्रस्तुत करता है। विरोधी पक्ष या सरकारी वकील आवेदक की निर्धनता का विरोध करते हुए अपना साक्ष्य भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

(2) आदेश 33 नियम 7 में आवेदन की सुनवाई में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का प्रावधान है। अदालत दोनों पक्षों द्वारा पेश किए गए गवाहों (यदि कोई हो) की जांच करेगी और अदालत द्वारा स्वीकार किए गए आवेदन या साक्ष्य (यदि कोई हो) पर दलीलें सुनेगी। इसके बाद, अदालत या तो आवेदन को अनुमति देगी या इसे खारिज कर देगी। आदेश 33 का नियम 8 आवेदन के प्रवेश के बाद पालन की जाने वाली प्रक्रिया की व्याख्या करता है। भर्ती होने के बाद आवेदन को क्रमांकित और पंजीकृत किया जाना चाहिए। ऐसे आवेदन को वाद में वाद (प्लेंट इन ए सूट) माना जाएगा। इसके बाद, ऐसा वाद उसी तरीके से आगे बढ़ेगा जैसे सामान्य वाद होते हैं।

(3) आदेश 33 नियम 9 में कहा गया है कि अदालत के पास वादी को एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की दी गई अनुमति को रद्द करने का विकल्प भी है। अदालत इस विवेकाधीन शक्ति का उपयोग प्रतिवादी या सरकारी वकील द्वारा निम्नलिखित परिस्थितियों में आवेदन प्राप्त करने पर कर सकती है—

(क) जहां आवेदक वाद के दौरान तंग करने वाले या अनुचित आचरण का दोषी है; या

(ख) जहां आवेदक के साधन ऐसे हैं कि वह एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करना जारी नहीं रखेगा; या

(ग) जहां आवेदक ने एक समझौता किया है जिसके तहत किसी अन्य व्यक्ति ने मुकदमे की विषय वस्तु में रुचि प्राप्त की है।

आर. जयराजा मेनन बनाम डॉ. राजकृष्णन और अन्य के मामले में केरल उच्च न्यायालय ने एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति वापस लेने के संबंध में एक आवेदन पर निर्णय लेते हुए कहा था कि आदेश 33 का नियम 9, एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है जहां वादी, जिसे शुरू में एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति दी गई थी, मुकदमा दायर होने के बाद एक निर्धन व्यक्ति नहीं रह जाता है। यदि कोई वादी निर्धन व्यक्ति नहीं रह जाता है, तो न्यायालय उसे उस न्यायालय शुल्क का भुगतान करने के लिए बाध्य करेगा, जिसका उसने भुगतान किया होता यदि उसे एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति नहीं दी गई होती तो। यह स्पष्ट रूप से संहिता के नियम 9 के तहत आदेश का एक हिस्सा है, जिसमें वादी को अदालत शुल्क का भुगतान करने का निर्देश दिया गया है, जिसका अगर उसे शुरू से ही एक निर्धन व्यक्ति के रूप में दायर करने की अनुमति नहीं दी जाती, तो वह भुगतान करता है।

निर्धन व्यक्ति के रूप में वाद दायर करने की प्रक्रिया— एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा दायर करने से पहले, आवेदन में सभी प्रासंगिक सामग्री जोड़ना महत्वपूर्ण है, जो एक निर्धन व्यक्ति होने की अनुमति मांगता है नियम 2,। आदेश 3 के नियम 2 के अनुसार, आवेदन में वादपत्र (प्लेंट) में उल्लिखित विवरण के समान विवरण और निर्धन व्यक्ति आवेदक की सभी चल या अचल (इम्प्यूवबल) संपत्तियां उसके अनुमानित मूल्य के साथ शामिल होनी चाहिए।

निर्धन व्यक्ति/ आवेदक स्वयं व्यक्तिगत रूप से न्यायालय के समक्ष आवेदन प्रस्तुत करेगा। किसी मामले में अगर ऐसे व्यक्ति को अदालत में पेश होने से छूट दी गई है, तो एक अधिकृत (ऑथराइज्ड) एजेंट उसकी ओर से आवेदन प्रस्तुत कर सकता है। कुछ परिस्थितियों में जहां दो या दो से अधिक वादी हों, उनमें से कोई भी आवेदन प्रस्तुत कर सकता है नियम 3,। जैसे ही एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने का आवेदन न्यायालय के समक्ष विधिवत प्रस्तुत किया जाता है, वाद शुरू हो जाता है। इसके बाद, निर्धन व्यक्ति आवेदक से न्यायालय द्वारा

पूछताछ की जाती है। हालांकि, यदि आवेदक का प्रतिनिधित्व उसके एजेंट द्वारा किया जा रहा है, तो ऐसे मामले में, अदालत आयोग द्वारा आवेदक की जांच कर सकती है नियम 4,।

प्रश्न न० 7— न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की व्याख्या कीजिए। इन शक्तियों का प्रयोग न्यायालय कब कर सकते हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— 'अंतर्निहित' का अर्थ किसी स्थायी, निरपेक्ष (एब्सोल्यूट), अविभाज्य (इंसेपरेबल), आवश्यक या चारित्रिक विशेषता है। न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियाँ वे शक्तियाँ हैं जिन्हें न्यायालय अपने समक्ष पक्षों के बीच पूर्ण न्याय करने के लिए लागू कर सकता है। न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे प्रत्येक मामले में न्याय प्रदान करें, चाहे वह इस संहिता में दिया गया हो या नहीं, यह एक निश्चित या अलग प्रावधान के अभाव में न्याय करने की महत्वपूर्ण शक्ति अपने साथ लाता है। इस शक्ति को अंतर्निहित शक्ति कहा जाता है जिसे न्यायालय द्वारा बनाए रखा जाता है, हालांकि प्रदान नहीं किया जाता है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों से संबंधित है।

सीपीसी की धारा 148 से 153B के प्रावधान— न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों से संबंधित कानून का उल्लेख सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 से धारा 153A में किया गया है, जो विभिन्न स्थितियों में शक्तियों के प्रयोग से संबंधित है। न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों के प्रावधान निम्नलिखित हैं—

- (1) धारा 148 और धारा 149 अनुदान (ग्रांट) या समय के विस्तार से संबंधित है;
- (2) धारा 150 व्यवसाय के हस्तांतरण (ट्रांसफर) से संबंधित है;
- (3) धारा 151 न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों की रक्षा करती है; तथा
- (4) धारा 152, 153 और धारा 153। निर्णयों, डिक्री या आदेशों में या अलग-अलग कार्यवाही में संशोधन से संबंधित है।

समय का विस्तार— सीपीसी की धारा 148 में कहा गया है कि जहां सीपीसी द्वारा प्रदान किए गए किसी भी कार्य को करने के लिए न्यायालय द्वारा कोई अवधि निर्धारित की जाती है, यह न्यायालय की विवेकाधीन शक्ति है कि न्यायालय समय-समय पर ऐसी अवधि को बढ़ा सकता है, भले ही अवधि को मूल रूप से तय किया गया हो। सरल शब्दों में, जब किसी कार्य को करने के लिए प्रावधान द्वारा एक अवधि निर्धारित की जाती है, तो न्यायालय को ऐसी अवधि को 30 दिनों तक बढ़ाने की शक्ति होती है। यह शक्ति किसी विशेष प्रावधान की कमी के विपरीत प्रयोग योग्य है जो अवधि को कम या अस्वीकार या रोक देता है। शक्ति न्यायालय के द्वारा निर्धारित समय के विस्तार तक सीमित है और विवेकाधीन प्रकृति की है।

अदालती फीस का भुगतान— सीपीसी की धारा 149 के अनुसार, जहां न्यायालय-फीस से संबंधित लागू कानून द्वारा किसी प्रमाण पत्र के लिए आदेशित किसी फीस का पूरा या उसका एक भाग पूरा नहीं किया गया हो तो न्यायालय, अपने विवेक से, किसी भी चरण पर, उस व्यक्ति को, जिसके द्वारा ऐसी फीस देय है, ऐसी अदालती फीस का पूरा या आंशिक भुगतान करने की अनुमति दे सकता है और इस तरह के भुगतान पर, दस्तावेज, जिसके संबंध में ऐसा फीस देय है, का परिणाम वैसा ही होगा जैसे कि प्रारंभिक स्थिति में इस तरह के फीस का भुगतान किया गया हो। यह अदालत को एक पक्ष को शिकायत या अपील की सूचना आदि पर देय अदालती फीस की कमी के लिए अनुमति देता है, यहां तक कि मुकदमा या अपील आदि दायर करने की सीमा अवधि की समाप्ति के बाद भी। न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने वाले न्यायालय फीस के साथ आरोपित किसी भी दस्तावेज के लिए अपेक्षित न्यायालय फीस का भुगतान अनिवार्य है। यदि अदालत द्वारा निर्धारित समय के भीतर आवश्यक अदालती फीस का भुगतान किया जाता है, तो इसे समय-बाधित के रूप में नेगोशिएट नहीं किया जा सकता है। अदालत द्वारा निर्धारित समय के भीतर किया गया ऐसा भुगतान पूर्वव्यापी (रेट्रोस्पेक्टिवली) रूप से एक दोषपूर्ण दस्तावेज को मान्य करता है। न्यायालय की शक्ति विवेकाधीन है और इसका प्रयोग न्याय के महत्व में ही किया जाना चाहिए।

व्यवसाय का स्थानांतरण— सीपीसी की धारा 150 के अनुसार, उसके सिवाय जैसा अन्यथा उपबंधित (ग्रांटेड) है, जहां किसी भी न्यायालय का व्यवसाय किसी अन्य न्यायालय को सौंपा गया है, तो जिस न्यायालय को व्यवसाय सौंपा गया है, उसके पास वही अधिकार होगा और वह वही कर्तव्यों का पालन करेगा जो क्रमिक रूप से प्रस्तुत किए गए हो या इस संहिता के तहत उस न्यायालय के पास थे जहां से इस व्यवसाय को सौंपा गया है।

उदाहरण के लिए— जब किसी न्यायालय A का व्यवसाय किसी अन्य न्यायालय B को हस्तांतरित किया जाता है, तो न्यायालय B उसी शक्ति का प्रयोग करेगा और कर्तव्यों का पालन करेगा जो सीपीसी द्वारा स्थानांतरण न्यायालय पर आदेशित किया गया है।

सीपीसी की धारा 151— धारा 151 न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की रक्षा से संबंधित है। इस धारा में कहा गया है कि सीपीसी में कुछ भी ऐसे आदेश देने के लिए न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को प्रतिबंधित या अन्यथा प्रभावित करने के लिए नहीं माना जाएगा जो न्याय के उद्देश्यों के लिए या न्यायालय के तरीके के दुरुपयोग को रोकने के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं। अदालत के लिए संसद द्वारा बनाए गए कानून या उच्च न्यायपालिका के आदेश की प्रतीक्षा करना अनिवार्य नहीं है। न्यायालय के पास ऐसा आदेश देने की विवेकाधीन या अंतर्निहित शक्ति है जो न्याय की सुरक्षा के लिए या न्यायालय के तरीके के दुरुपयोग को रोकने के लिए कानूनों के तहत नहीं दिया गया है।

सीपीसी की धारा 151 के प्रयोग के दायरे को कुछ मामलों द्वारा निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है—

- (1) अदालत अपने आदेशों की दोबारा जांच कर सकती है और त्रुटियों का समाधान कर सकती है;
- (2) जब मामला आदेश 39 द्वारा शामिल नहीं किया जाता है या 'एकतरफा' आदेश को हटाने के लिए नहीं होता है, तो अनंतिम प्रतिबंध जारी किया जा सकता है;
- (3) अधिकार क्षेत्र (ज्यूरिसडिक्शन) के बिना पारित किए गए अवैध आदेश रद्द किए जा सकते हैं;
- (4) मामले में बाद की घटनाओं को अदालत द्वारा ध्यान में रखा जा सकता है;
- (5) 'कैमरे में' परीक्षण जारी रखने या इसकी कार्यवाही के प्रकटीकरण को रोकने के लिए न्यायालय की शक्तिय अदालत एक न्यायाधीश के खिलाफ की गई टिप्पणियों को मिटा सकती है; तथा
- (6) अदालत मुकदमे में सुधार कर सकती है और योग्यता के आधार पर फिर से सुनवाई कर सकती है या अपने आदेश की फिर से जांच कर सकती है।

न्याय का उद्देश्य—

देवेंद्रनाथ बनाम सत्य बाला दास के मामले में, "न्याय के अंत" का अर्थ समझाया गया था। यह माना गया कि "न्याय का उद्देश्य" गंभीर शब्द हैं, इसके अलावा, शब्द न्यायिक पद्धति के अनुसार केवल एक विनम्र अभिव्यक्ति नहीं हैं। ये शब्द यह भी इंगित करते हैं कि न्याय सभी कानूनों का अनुगमन और अंत है। हालांकि, यह अभिव्यक्ति भूमि और विधियों के कानूनों के अनुसार न्याय की अस्पष्ट और अनिश्चित धारणा नहीं है।

न्यायालय को इन अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग ऐसे मामलों में करने की अनुमति है जैसे— अपने स्वयं के आदेश की पुनरु जांच करना और अपनी त्रुटि को ठीक करना, आदेश 39 में शामिल नहीं होने पर निषेधाज्ञा (इंजंक्शन) पारित करना, और पक्ष के खिलाफ एकतरफा आदेश देना, आदि।

न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग— सीपीसी की धारा 151 अदालत की प्रक्रिया के उल्लंघन को रोकने के लिए अंतर्निहित शक्तियों के प्रयोग का प्रावधान करती है। अदालत की शक्तियों का दुरुपयोग जो पक्ष के साथ अन्याय होता है, उसे इस आधार पर राहत मिलनी चाहिए कि अदालत के कार्य से किसी पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब कोई पक्ष अदालत में या किसी कार्यवाही के पक्ष में धोखाधड़ी करता है, तो अंतर्निहित शक्ति के आधार पर उपचार प्रदान किया जाना चाहिए। 'दुर्व्यवहार' शब्द तब घटित होता है जब कोई न्यायालय किसी ऐसे कार्य को करने के लिए एक विधि का उपयोग करता है जिसकी उससे कभी अपेक्षा नहीं की जाती है कि वह उक्त दुरुपयोग का अपराधी है और न्याय की विफलता है। पक्ष के साथ किए गए अन्याय को एक्टस क्यूरी नेमिनेम ग्रावाबिट (अदालत का एक कार्य किसी को पूर्वाग्रह (प्रेजुडिस) नहीं देगा) के सिद्धांत के आधार पर राहत दी जानी चाहिए। किसी मामले का पक्ष उन मामलों में दुर्व्यवहार का अपराधी बन जाएगा जब उक्त पक्ष न्यायालय या कार्यवाही के पक्ष में धोखाधड़ी करके लाभ प्राप्त करने, कार्यवाही की बहुलता को बढ़ावा देने आदि जैसे कार्य करता है।

निर्णयों, डिक्री, आदेशों और अन्य रिकॉर्ड्स में संशोधन— सीपीसी की धारा 152 "निर्णयों, डिक्री और आदेश के संशोधन" से संबंधित है। सीपीसी की धारा 152 के अनुसार, न्यायालय के पास निर्णयों, डिक्री या आदेशों में लिखित या अंकगणितीय (आर्थमेटिकल) गलतियों या अप्रत्याशित (अनएक्सपेक्टेड) चूक या अपूर्णता से उत्पन्न होने वाली त्रुटियों (या तो स्वयं के कार्यों या किसी भी पक्ष के आवेदन पर) को बदलने की शक्ति है। धारा 153 "संशोधन के सामान्य अधिकार" से संबंधित है। यह धारा अदालत को किसी भी कार्यवाही में किसी भी गलती और त्रुटि में संशोधन करने का अधिकार देती है और उठाए गए मुद्दों को व्यवस्थित करने या ऐसी कार्यवाही के आधार पर सभी आवश्यक सुधार करने का भी अधिकार देती है। सीपीसी की धारा 152 और 153 यह स्पष्ट करती है कि अदालत किसी भी समय उनके अनुभवों में किसी भी गलती को ठीक कर सकती है।

डिक्री या आदेश में संशोधन करने की शक्ति जहां एक अपील को खारिज कर दिया जाता है और मुकदमे की जगह को खुली अदालत माना जाता है, सीपीसी, 1908 की धारा 153। और 153 B के तहत परिभाषित किया गया है।

सीमा— अंतर्निहित शक्तियों के प्रयोग में कुछ बाधाएँ होती हैं जैसे—

- (1) उन्हें केवल संहिता में विशेष प्रावधानों की कमी में ही लागू किया जा सकता है;
- (2) संहिता में स्पष्ट रूप से जो दिया गया है, उसके साथ विवाद में उन्हें लागू नहीं किया जा सकता है;
- (3) उन्हें दुर्लभ या असाधारण मामलों में लागू किया जा सकता है;
- (4) शक्तियों का संचालन करते समय, अदालत को विधायिका द्वारा दिखाए गए तरीके का पालन करना होता है;
- (5) न्यायालय न तो अधिकार क्षेत्र का प्रयोग कर सकते हैं और न ही उन्हें कानून द्वारा सौंप सकते हैं;
- (6) रेस ज्यूडिकाटा के सिद्धांत का पालन करना अर्थात्, उन मुद्दों को न खोलना जो पहले ही अंतिम रूप से तय हो चुके हैं;
- (7) किसी निर्णय को नए सिरे से देने के लिए मध्यस्थ (मिडिएटर) का चयन करना;
- (8) पक्षों के मूल अधिकार नहीं छीने जाने चाहिए;
- (9) किसी पक्ष को न्यायालय में कार्यवाही करने से सीमित करने के लिए; तथा
- (10) एक आदेश को रद्द करने के लिए जो उसके जारी होने के समय वैध था।

न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों के प्रावधानों का सारांश—धारा 148 से धारा 153B का सारांश यह है कि न्यायालय की शक्तियाँ निम्नलिखित के दायरे के लिए काफी गहरी और व्यापक हैं—

- (1) मुकदमेबाजी को कम करना;
- (2) कार्यवाही की बहुलता से बचना; तथा

(3) पक्षों के बीच पूर्ण न्याय प्रदान करना।

प्रश्न नं० 8— अस्थायी निषेधाज्ञा क्या है? कब एवं किन मामलों में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान की जा सकती है? तत्सदर्थ में सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1999 का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर— अस्थायी निषेधाज्ञा का अर्थ— अस्थायी निषेधाज्ञा एक न्यायालय आदेश है जो किसी मामले के चलते समय दिया जाता है ताकि मामले का अंतिम निर्णय होने तक चीजें वैसी ही बनी रहें जैसी वे हैं। इसका मुख्य उद्देश्य किसी व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया के दौरान किसी अन्य पक्ष को गंभीर नुकसान पहुंचाने से रोकना है। यह विचार गुजरात पोटलिंग कंपनी लिमिटेड और अन्य बनाम कोका कोला कंपनी और अन्य (1995) के मामले में स्पष्ट किया गया था।

अस्थायी निषेधाज्ञा के नियम सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 में दिए गए हैं और वे इस प्रकार हैं—

(1) कानून की धारा 94 न्याय में हस्तक्षेप को रोकने के बारे में है। भाग (सी) अस्थायी निषेधाज्ञा देने से संबंधित है और इसमें यह सुनिश्चित करने के नियम हैं कि लोग उनका पालन करें, जैसे किसी को सिविल जेल में डालना या उनका पालन करवाने के लिए उनकी संपत्ति बेचना।

(2) धारा 95 के अनुसार यदि वादी का दावा खारिज हो जाता है तो न्यायालय प्रतिवादी को धन देने पर विचार कर सकता है।

(3) सिविल प्रक्रिया संहिता (सीपीसी) के आदेश 39 में अस्थायी निषेधाज्ञा के बारे में कई नियम हैं।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा

भारत में अस्थायी निषेधाज्ञाओं को सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 द्वारा विनियमित किया जाता है तथा उनके प्रदान करने और लागू करने के विशिष्ट नियम इस प्रकार हैं—

आदेश XXXIX, नियम 1: यह नियम न्यायालय को सी.पी.सी. के अंतर्गत अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने की अनुमति देता है, जब ऐसा करना उचित और उपयुक्त समझा जाता है, ताकि किसी दायित्व के उल्लंघन को रोका जा सके या ऐसे उल्लंघन के वास्तविक भय से होने वाली हानि को रोका जा सके।

आदेश XXXIX, नियम 2: यह नियम अस्थायी निषेधाज्ञा दिए जाने के लिए आवश्यक शर्तों को बताता है। इन शर्तों में एक मजबूत प्रारंभिक मामला होना, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय क्षति की संभावना शामिल है।

आदेश XXXIX, नियम 3: यह नियम सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा प्राप्त करने की प्रक्रिया और आपको क्या करना होगा, इसकी व्याख्या करता है, जिसमें शपथ पत्र द्वारा समर्थित आवेदन प्रस्तुत करना भी शामिल है।

आदेश XXXIX, नियम 4: यह नियम न्यायालय के उस अधिकार को कवर करता है, जिसके तहत वह संपत्ति जब्त कर सकता है, जब यह सुनिश्चित करना आवश्यक हो कि अस्थायी निषेधाज्ञा कमजोर न हो।

आदेश XXXIX, नियम 5: यह नियम न्यायालय को कार्यवाही के दौरान किसी भी समय अस्थायी निषेधाज्ञा को बदलने या रद्द करने की अनुमति देता है, यदि यह स्थिति के आधार पर उचित हो।

आदेश XXXIX, नियम 6: यह नियम इस बात से संबंधित है कि ब्ळ में अस्थायी निषेधाज्ञा कितने समय तक चलती है। यह एक निश्चित समय तक या न्यायालय द्वारा अन्यथा आदेश दिए जाने तक प्रभावी रह सकती है।

आदेश XXXIX, नियम 7: यह नियम बताता है कि अगर कोई व्यक्ति अस्थायी निषेधाज्ञा का उल्लंघन करता है या उसकी अवज्ञा करता है तो क्या होगा। इसमें न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही और पीड़ित पक्ष के लिए अन्य उपाय शामिल हैं।

ये नियम CPC के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा देने और उसके प्रबंधन के लिए संरचना निर्धारित करते हैं। अस्थायी निषेधाज्ञा की मांग करने या उसे चुनौती देने वाले दोनों पक्षों के लिए इन नियमों से परिचित होना और उल्लिखित प्रक्रियाओं का पालन करना महत्वपूर्ण है।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा के आधार—

दलपत कुमार एवं अन्य बनाम प्रहलाद सिंह एवं अन्य (1991) के मामले में सी.पी.सी. के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा के लिए आवेदन करने और अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं स्थापित की गई हैं। वे हैं—

प्रथम दृष्टया मामला— इसका मतलब यह है कि मुकदमे में, सीपीसी में अस्थायी निषेधाज्ञा के लिए एक गंभीर और विवादित प्रश्न होना चाहिए। इस प्रश्न से जुड़े तथ्यों से यह संकेत मिलना चाहिए कि वादी या प्रतिवादी को राहत पाने का हक है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि प्रथम दृष्टया मामले में किसी ऐसे अकाट्य तर्क की आवश्यकता नहीं होती है जो मुकदमे में सफल होने के लिए निश्चित हो। बल्कि, इसका मतलब यह है कि निषेधाज्ञा के लिए प्रस्तुत मामले में पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए ताकि उसे पूरी तरह से खारिज न किया जा सके।

अपूरणीय क्षति— यदि किसी व्यक्ति को मुकदमे से संबंधित कोई अपूरणीय क्षति होती है, तो उसके कानूनी अधिकारों का परीक्षण में निर्धारण होने से पहले, यह गंभीर अन्याय होगा। हालाँकि, यह समझना आवश्यक है कि किसी वस्तु के भावनात्मक मूल्य जैसे नुकसान को आमतौर पर अपूरणीय नहीं माना जाएगा। दूसरी ओर, ऐसे नुकसान जिन्हें कानूनी तरीकों से पर्याप्त रूप से ठीक नहीं किया जा सकता है, खासकर जब कोई उचित या उचित समाधान न हो, उन्हें अपूरणीय माना जा सकता है। अपूरणीय क्षति से तात्पर्य उन स्थितियों से भी हो सकता है, जहाँ चोट निरंतर या बार-बार होती है, या जहाँ इसे केवल कई कानूनी कार्रवाइयों के माध्यम से ठीक किया जा सकता है।

कभी-कभी, अपूरणीय क्षति शब्द का संबंध नुकसान की मात्रा को निर्धारित करने की कठिनाई से होता है, लेकिन चोट को साबित करने में केवल कठिनाई से अपूरणीय क्षति स्थापित नहीं होती है।

सुविधा का संतुलन— न्यायालय को दोनों पक्षों की परिस्थितियों का मूल्यांकन करना चाहिए तथा निषेधाज्ञा को रोकने अथवा इसे देने से होने वाले संभावित नुकसान या असुविधा की तुलना करनी चाहिए। संक्षेप में, न्यायालय को यह निर्धारित करना चाहिए कि निषेधाज्ञा न देने से होने वाला नुकसान या असुविधा, निषेधाज्ञा दिए जाने पर होने वाली हानि या असुविधा से अधिक होगी या नहीं।

ये तीन आवश्यकताएं कानूनी मामलों में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के निर्णय के लिए महत्वपूर्ण मानदंड के रूप में कार्य करती हैं।

मंडाती रंगन्ना बनाम टी. रामचंद्र (MANU/SC/7567/2008 : AIR 2008 SC 2291) में, न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के लिए आवेदन पर विचार करते समय, केवल प्रथम दृष्टया मामले के अस्तित्व, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय क्षति जैसे मूलभूत तत्वों पर विचार करना पर्याप्त नहीं है।

निषेधाज्ञा देना एक न्यायसंगत उपाय है और न्यायालय को इसमें शामिल पक्षों के आचरण को भी ध्यान में रखना चाहिए। विशेष रूप से, यदि एक पक्ष लंबे समय तक चुप रहा है और किसी अन्य पक्ष को किसी संपत्ति से विशेष रूप से निपटने की अनुमति दी है, तो वे निषेधाज्ञा के हकदार नहीं हो सकते हैं। न्यायालय केवल इसलिए हस्तक्षेप नहीं करेगा क्योंकि संबंधित संपत्ति मूल्यवान है। न्यायालय का प्राथमिक लक्ष्य सभी संबंधित पक्षों के हितों की रक्षा करना है।

पेडसेट्टी भंनारायण बनाम पेडसेट्टी राजेश्वर राव (एआईआर 1999 ओरि 92) में, न्यायालय ने कहा कि वादी के लिए हमेशा विवादित संपत्ति पर अपना पूर्ण अधिकार साबित करना आवश्यक नहीं है। यह पर्याप्त है यदि वादी अपने द्वारा दावा किए गए अधिकार के अस्तित्व के बारे में एक वैध प्रश्न उठा सकता है। इसके अलावा, अगर वादी अदालत को यह समझा सकता है कि कानूनी सवाल हल होने तक विचाराधीन संपत्ति को उसकी मौजूदा स्थिति में संरक्षित रखा जाना चाहिए, तो यह निषेधाज्ञा देने को उचित ठहरा सकता है। यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि कुछ मामलों में, निषेधाज्ञा चाहने वाले पक्ष को पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती है, लेकिन उसे एक वास्तविक दावा दिखाना चाहिए और कानूनी कार्यवाही के दौरान संपत्ति की रक्षा करने की आवश्यकता होनी चाहिए।

अस्थायी निषेधाज्ञा कितने समय तक लागू रहती है?

अस्थायी निषेधाज्ञा की अवधि न्यायालय द्वारा निषेधाज्ञा जारी करते समय निर्धारित की जाती है। “आदेश XXXIX, सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के नियम 6” के अनुसार, अस्थायी निषेधाज्ञा निर्दिष्ट समय तक या न्यायालय द्वारा आगे के आदेश जारी किए जाने तक प्रभावी रह सकती है।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा की अवधि दी गई निषेधाज्ञा के प्रकार पर निर्भर करती है—

पेंडेंट लाइट निषेधाज्ञा— इस प्रकार की निषेधाज्ञा तब तक लागू रहती है जब तक कि चल रही कानूनी कार्यवाही समाप्त नहीं हो जाती और न्यायालय का अंतिम निर्णय नहीं आ जाता। यदि मुकदमा खारिज हो जाता है, तो अस्थायी निषेधाज्ञा भी हटा ली जाती है।

स्थायी निषेधाज्ञा मुकदमा— स्थायी निषेधाज्ञा से जुड़े मामलों में, न्यायालय द्वारा जारी अस्थायी निषेधाज्ञा को अंतिम डिक्री के भाग के रूप में स्थायी बनाया जा सकता है। इसका मतलब यह है कि सीपीसी के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा प्रभावी रूप से न्यायालय के अंतिम डिक्री द्वारा निर्धारित एक स्थायी उपाय बन जाती है।

संक्षेप में, सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा की वैधता निषेधाज्ञा की प्रकृति के आधार पर भिन्न होती है। पेंडेंट लाइट निषेधाज्ञा के लिए, यह कानूनी कार्यवाही के समापन तक रहता है, जबकि स्थायी निषेधाज्ञा के लिए मुकदमों में, अस्थायी निषेधाज्ञा न्यायालय के अंतिम आदेश के माध्यम से स्थायी हो सकती है।

क्या प्रतिवादी को निषेधाज्ञा दी जा सकती है?

सर्वोच्च न्यायालय ने तम्मिनेदी रामकृष्ण आदि बनाम एन. जयलक्ष्मी के मामले में नोटिस जारी किया। मुख्य मुद्दा यह था कि क्या प्रतिवादी को संहिता के आदेश गग्न नियम 1 (सी) के तहत निषेधाज्ञा मांगने का अधिकार था।

एसएलपी (विशेष अनुमति याचिका) कर्नाटक उच्च न्यायालय के आदेश को चुनौती देती है, जिसने ट्रायल कोर्ट के फैसले की पुष्टि की और कोड की धारा 151 के साथ आदेश गग्न नियम 1 (ए), (बी) और (सी) के तहत प्रतिवादी के पक्ष में एक अस्थायी निषेधाज्ञा दी। उच्च न्यायालय ने आदेश गग्न नियम 1 के तीन उप-नियमों को अलग करने का प्रयास किया, यह सुझाव देते हुए कि उप-नियम (बी) और (सी) मुख्य रूप से वादी के लिए उपचार प्रदान करते हैं, जबकि उप-नियम (ए) एक अधिक सामान्य प्रावधान है।

विभिन्न उच्च न्यायालयों ने इस बात पर अलग-अलग राय व्यक्त की है कि क्या प्रतिवादी प्रति-दावा दायर किए बिना वादी के खिलाफ निषेधाज्ञा की मांग कर सकता है। त्रावणकोर और कोच्चि (पूर्व में) उच्च न्यायालय और कई अन्य उच्च न्यायालयों ने माना है कि प्रतिवादी वादी के खिलाफ अस्थायी निषेधाज्ञा का अनुरोध कर सकता है यदि उनका दावा वादी के कार्यवाही के कारण से संबंधित या उससे संबंधित है।

प्रश्न न० 9—मर्यादा विधि केवल उपचार को वर्जित करती है, अधिकार को नहीं । मर्यादा अधिनियम, 1963 के अधीन इस कथन की व्याख्या इसके अपवादों सहित कीजिए।

उत्तर—सीमा कानून की जड़ें "इंटरैस्ट रिपब्लिका यूट सिट फिनिस लिटियम" की उक्ति में मिलती हैं, जिसका अर्थ है कि पूरे राज्य के हित में मुकदमेबाजी की एक सीमा होनी चाहिए और "विजिलेंटीबस नॉन डॉर्मिएंटिबस जुरा सबवेनियंट" जिसका अर्थ है कि कानून केवल उन लोगों की सहायता करेगा जो अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं, न कि उन लोगों की जो इस पर ध्यान नहीं देते। सीमा कानून वैधानिक समय सीमा को निर्दिष्ट करता है जिसके भीतर कोई व्यक्ति कानूनी कार्यवाही शुरू कर सकता है या कोई कानूनी कार्रवाई की जा सकती है। यदि कोई मुकदमा निर्धारित समय की समाप्ति के बाद दायर किया जाता है तो उसे सीमा द्वारा रोक दिया जाएगा। इसका मतलब है कि जिस समय के भीतर कानूनी कार्यवाही शुरू की जानी चाहिए थी, उस समय की समाप्ति के बाद न्यायालय के समक्ष लाया गया मुकदमा प्रतिबंधित होगा।

अधिनियम का इतिहास—परिसीमा कानून कई चरणों में विकसित हुआ और अंततः 1963 के परिसीमा अधिनियम का रूप ले लिया। 1859 से पहले, पूरे भारत में लागू होने वाला कोई परिसीमा कानून नहीं था। यह केवल 1859 में था कि परिसीमा से संबंधित एक कानून (1859 का अधिनियम गूट) अधिनियमित किया गया था जो सभी न्यायालयों पर लागू था। परिसीमा अधिनियम को बाद में 1871, 1877, 1908 में निरस्त कर दिया गया। परिसीमा अधिनियम, 1908 को तीसरे विधि आयोग द्वारा निरस्त कर दिया गया और 1963 का परिसीमा अधिनियम लागू हुआ। 1908 के अधिनियम में केवल विदेशी अनुबंधों का उल्लेख था जबकि 1963 के अधिनियम में जम्मू और कश्मीर के क्षेत्र में या किसी विदेशी देश में किए गए अनुबंधों के बारे में बात की गई थी।

अधिनियम का उद्देश्य—परिसीमा कानून एक समय अवधि निर्धारित करता है जिसके भीतर न्यायालय में किसी अधिकार को लागू किया जा सकता है। अधिनियम की अनुसूची में विभिन्न मुकदमों के लिए समय अवधि प्रदान की गई है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य मुकदमेबाजी को लंबे समय तक चलने से रोकना और मामलों का शीघ्र निपटारा करना है जिससे प्रभावी मुकदमेबाजी हो सके। जम्मू और कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 के अनुसार, परिसीमा अधिनियम के प्रावधान अब पूरे भारत में लागू होंगे। परिसीमा अधिनियम, 1963 में परिसीमा अवधि के लिए समय की गणना, देरी की माफी आदि से संबंधित प्रावधान हैं। परिसीमा अधिनियम में 32 धाराएँ और 137 अनुच्छेद हैं और अनुच्छेदों को 10 भागों में विभाजित किया गया है।

पूर्वव्यापी संचालन—बीके एजुकेशन सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड बनाम पराग गुप्ता एंड एसोसिएट्स में, सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि चूंकि सीमा का कानून प्रकृति में प्रक्रियात्मक है, इसे पूर्वव्यापी रूप से लागू किया जाएगा। थिरुमलाई केमिकल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सीमा के कानून पूर्वव्यापी हैं जहां तक वे पहले अर्जित कार्रवाई के कारणों को लागू करने के लिए उनके संचालन के बाद लाई गई सभी कानूनी कार्यवाहियों पर लागू होते हैं। आबकारी और कराधान बनाम मेसर्स फ्रिगो ग्लास इंडिया प्राइवेट लिमिटेड में, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि यह अच्छी तरह से स्थापित है कि सीमा का कानून एक प्रक्रियात्मक कानून है और पूर्वव्यापी रूप से संचालित होता है जब तक कि इसे संशोधित कानून में अलग से प्रदान नहीं किया गया हो। दूसरे शब्दों में, जब तक कि कानून के स्पष्ट या आवश्यक निहितार्थ से कोई विपरीत इरादा प्रकट न हो

सीमा बार उपाय

धारा 3 में सामान्य नियम दिया गया है कि यदि कोई वाद, अपील या आवेदन निर्धारित समय की समाप्ति के बाद न्यायालय के समक्ष लाया जाता है, तो न्यायालय ऐसे वाद, अपील या आवेदन को समय-बाधित मानकर खारिज कर देगा। सीमा का कानून केवल न्यायिक उपचार को रोकता है और अधिकार को समाप्त नहीं करता है। दूसरे शब्दों में, इसका मतलब है कि सीमा का कानून केवल उस अवधि को निर्धारित करता है जिसके भीतर कानूनी कार्यवाही शुरू की जानी है। यह ऐसी कार्रवाइयों के लिए बचाव स्थापित करने के लिए किसी अवधि को प्रतिबंधित नहीं करता है। इसलिए, वाद दायर करने का मूल अधिकार वर्जित नहीं है। हालाँकि, धारा 27 इस नियम का अपवाद है।

पंजाब नेशनल बैंक और अन्य बनाम सुरेन्द्र प्रसाद सिन्हा मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि सीमा के नियम पक्षों के अधिकारों को नष्ट करने के लिए नहीं हैं। धारा 3 केवल उपचार पर रोक लगाती है, लेकिन उस अधिकार को नष्ट नहीं करती जिससे उपचार संबंधित है।

एस 15/1996 बनाम केजे एंथनी के मामले में फैसले के खिलाफ, न्यायालय ने माना कि एक मुकदमे में प्रतिवादी कोई भी बचाव पेश कर सकता है, हालाँकि ऐसा बचाव अदालत में लागू नहीं हो सकता है, क्योंकि वह समय-सीमा से वर्जित है।

बॉम्बे डाइंग एंड मैनुफैक्चरिंग बनाम बॉम्बे राज्य मामले में यह माना गया कि समय-सीमा का कानून केवल उपचार पर रोक लगाता है, लेकिन ऋण को समाप्त नहीं करता है।

सीमाएं बचाव पर रोक नहीं लगातीं

परिसीमा कानून प्रतिवादी को प्रतिबंधित नहीं करता है यदि वह अपने बचाव में वैध दलील देता है, भले ही मुकदमा समय-बाधित हो। यह रुलिया राम हकीम राय बनाम फतेह सिंह में माना गया था, परिसीमा का प्रतिबंध बचाव के

रास्ते में नहीं आता है। यह केवल कार्रवाई को रोकता है और केवल उसकी वसूली ही समय-बाधित है। ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो देनदार को उसके समय-बाधित बकाया को चुकाने से रोकता या रोकता हो।

श्रीमंत शामराव सूर्यवंशी बनाम प्रहलाद भैरोबा सूर्यवंशी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, परिसीमा अधिनियम वादी से न्यायालय में मुकदमा चलाकर अपने अधिकारों को लागू करने का उपाय छीन लेता है, लेकिन यह प्रतिवादी पर अपना बचाव प्रस्तुत करने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाता है, यद्यपि ऐसा बचाव परिसीमा द्वारा वर्जित है और न्यायालय में लागू नहीं किया जा सकता है।

न्यायालय में आवेदन

धारा 3(सी) के तहत, उच्च न्यायालय में प्रस्ताव के नोटिस द्वारा आवेदन तब किया जा सकता है जब आवेदन उस न्यायालय के उचित अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यदि किसी आवेदन के लिए निर्धारित अवधि उस दिन समाप्त हो जाती है जिस दिन न्यायालय बंद होता है, तो धारा 4 के अनुसार आवेदन उस दिन किया जाएगा जिस दिन न्यायालय पुनः खुलता है।

सीमा अवधि की दलील— न्यायालय का कर्तव्य

यदि कोई मुकदमा सीमा अधिनियम द्वारा निर्धारित समय के बाद दायर किया जाता है तो न्यायालय उसे खारिज करने के लिए बाध्य है। धारा 3 के प्रावधान अनिवार्य हैं और यदि समय सीमा के कारण मुकदमा दायर नहीं किया जाता है तो न्यायालय उस पर आगे नहीं बढ़ेगा। अधिनियम की धारा 3 के तहत, यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि निर्धारित अवधि के बाद दायर किया गया प्रत्येक मुकदमा, अपील और आवेदन खारिज कर दिया जाएगा। भले ही सीमा को बचाव के रूप में स्थापित नहीं किया गया है।

क्राफ्ट सेंटर बनाम कोंचेरी कॉयर फैक्ट्रीज में यह माना गया था कि वादी का यह कर्तव्य है कि वह न्यायालय को यह विश्वास दिलाए कि उसका मुकदमा समय के भीतर है। यदि यह समय से बाहर है और वादी सीमाओं को बचाने के लिए किसी भी पावती पर निर्भर करता है तो उसे इनकार किए जाने पर उनका तर्क देना होगा या साबित करना होगा। न्यायालय ने आगे कहा कि धारा 3 का प्रावधान निरपेक्ष और अनिवार्य है और यदि किसी मुकदमे में समय सीमा समाप्त हो जाती है तो न्यायालय का कर्तव्य है कि वह अपीलीय चरण में भी मुकदमे को खारिज कर दे, भले ही सीमा का मुद्दा न उठाया गया हो। आईसीआईसीआई बैंक लिमिटेड बनाम त्रिशला अपैरल्स प्राइवेट लिमिटेड में यह माना गया था कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि न्यायालय किसी मामले में मुकदमे को खारिज करने के लिए बाध्य है यदि उस पर समय सीमा समाप्त हो जाती है, भले ही विपरीत पक्ष द्वारा ऐसी कोई दलील न ली गई हो।

मुकुंद लिमिटेड बनाम मुंबई अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा मामले में यह निर्णय दिया गया कि यह स्पष्ट रूप से स्पष्ट है कि जब किसी मुकदमे पर समय-सीमा के द्वारा रोक लगा दी जाती है, तो न्यायालय को विवादों के गुण-दोष के आधार पर आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है और वास्तव में वह मुकदमे को खारिज करने के लिए बाध्य होता है।

सीमा का प्रारंभिक बिंदु

जिस समय से परिसीमा अवधि शुरू होती है वह मामले के विषय पर निर्भर करता है और ऐसी अवधि का एक विशिष्ट प्रारंभिक बिंदु अधिनियम में अनुसूची द्वारा विस्तृत रूप से प्रदान किया गया है। यह आम तौर पर उस तारीख से शुरू होता है जब समन या नोटिस दिया जाता है, या जिस तारीख को डिक्री या निर्णय पारित किया जाता है, या जिस तारीख को मुकदमे का आधार बनने वाली घटना होती है। ट्रस्टीज पोर्ट बॉम्बे बनाम प्रीमियर ऑटोमोबाइल में सुप्रीम कोर्ट ने माना कि परिसीमा का प्रारंभिक बिंदु कार्रवाई के कारण का उपार्जन है।

न्यायालय बंद होने पर सीमा की समाप्ति अवधि

जब कोई न्यायालय किसी निश्चित दिन बंद हो और उस दिन सीमा अवधि समाप्त हो जाए तो कोई भी वाद, अपील या आवेदन उस दिन न्यायालय में लिया जाएगा जिस दिन वह पुनः खुलेगा। इसका अर्थ यह है कि किसी पक्षकार को उसकी अपनी गलती से नहीं बल्कि उस दिन न्यायालय के बंद होने के कारण रोका गया है। सीमा अधिनियम की धारा 4 में यह प्रावधान है कि जब किसी वाद, अपील या आवेदन के लिए सीमा अवधि निर्धारित की गई है और ऐसी अवधि उस दिन समाप्त हो जाती है जिस दिन न्यायालय बंद हो तो ऐसा वाद, अपील या आवेदन उस दिन संस्थित किया जाएगा, पेश किया जाएगा या किया जाएगा जिस दिन न्यायालय पुनः खुलेगा। इस धारा के स्पष्टीकरण में उल्लेख है कि इस धारा के अर्थ में किसी भी दिन न्यायालय बंद माना जाएगा यदि न्यायालय के सामान्य कामकाज के किसी भी भाग के दौरान वह उस दिन बंद रहता है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई न्यायालय 1 जनवरी को पुनः खुलता है और अपील दायर करने का समय 30 दिसंबर (जिस दिन न्यायालय बंद रहता है) को समाप्त हो जाता है, तो अपील 1 जनवरी को न्यायालय के पुनः खुलने पर की जा सकती है।

विलंब की क्षमा

विलंब की माफी का अर्थ है कुछ मामलों में दी गई समय सीमा का विस्तार, बशर्ते ऐसे विलंब के लिए पर्याप्त कारण हो। धारा 5 कुछ मामलों में निर्धारित अवधि के विस्तार के बारे में बात करती है। यह प्रदान करती है कि यदि अपीलकर्ता या आवेदक अदालत को संतुष्ट करता है कि उसके पास उस अवधि के भीतर अपील या आवेदन न करने का पर्याप्त कारण था, तो ऐसी अपील या आवेदन निर्धारित समय के बाद स्वीकार किया जा सकता है। यह धारा आगे उल्लेख करती है कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के आदेश ग्ग के किसी भी प्रावधान के

तहत किया गया आवेदन। स्पष्टीकरण में कहा गया है कि निर्धारित अवधि का पता लगाने या गणना करने में जब आवेदक या अपीलकर्ता को उच्च न्यायालय के किसी आदेश, अभ्यास या निर्णय से गुमराह किया गया हो। यह इस धारा के अर्थ के भीतर पर्याप्त कारण होगा।

हालाँकि, यदि कोई पक्ष देरी के लिए कोई ठोस आधार नहीं दिखाता है तो आवेदन, मुकदमा या अपील को अदालत द्वारा खारिज कर दिया जाएगा।

केरल राज्य बनाम के.टी. शादुली यूसुफ के मामले में, न्यायालय ने माना कि, विलम्ब को माफ करने के लिए पर्याप्त कारण है या नहीं, यह तथ्य का प्रश्न है जो किसी विशेष मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

पर्याप्त कारण

पर्याप्त कारण का अर्थ है कि न्यायालय के पास यह मानने के लिए पर्याप्त कारण या उचित आधार होना चाहिए कि आवेदक को न्यायालय में आवेदन के साथ आगे बढ़ने से रोका गया था।

राज्य (दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र) बनाम अहमद जान मामले में कहा गया था कि अभिव्यक्ति पर्याप्त कारण को उदार निर्माण मिलना चाहिए। बलवंत सिंह (मृत) बनाम जगदीश सिंह और अन्य मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि आवेदक के लिए पर्याप्त कारण दिखाना अनिवार्य है जिसके कारण उसे मुकदमे में कार्यवाही जारी रखने से रोका गया था। इस मामले में, कानूनी प्रतिनिधियों को रिकॉर्ड पर लाने के लिए आवेदन दाखिल करने में 778 दिनों की देरी हुई।

ऑर्नेट ट्रेडर्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम मुंबई मामले में, बॉम्बे उच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि जहां पर्याप्त कारण दर्शाया गया हो और विलंब की माफी के लिए आवेदन सद्भावपूर्वक प्रस्तुत किया गया हो, तो न्यायालय आमतौर पर विलंब को माफ कर देगा, लेकिन जहां विलंब का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया हो और लापरवाही तथा असावधानी के अलावा अत्यधिक विलंब हुआ हो, तो न्यायालय का विवेक सामान्यतः आवेदक के विरुद्ध होगा।

बृज इंदर सिंह बनाम कांसी राम मामले में बॉम्बे उच्च न्यायालय ने कहा कि धारा 5 के तहत अधिकारिता का प्रयोग करते समय न्यायालय के लिए सही मार्गदर्शक यह है कि क्या वादी ने अपील पर मुकदमा चलाने में समझदारी और उचित तत्परता के साथ काम किया है।

आवेदक ने पर्याप्त कारण बताए हैं या नहीं, यह न्यायालय के विवेक और प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, न्यायालय चिकित्सा आधार पर देरी को माफ कर सकता है।

प्रश्न नं० 10— निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

उत्तर— (1) वाद हेतुक— सिविल प्रक्रिया संहिता (सीपीसी), 1908 के मुताबिक, वाद—हेतुक का मतलब है, उन तथ्यों का समूह, जिनके लागू होने पर वादी को प्रतिवादी के खिलाफ राहत का अधिकार मिल सकता है। साल 1996 के दक्षिण पूर्व एशिया शिपिंग बनाम नव भारत एंटरप्राइजेज मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने माना था कि वाद—हेतुक, अनिवार्य रूप से उन तथ्यों का समूह होता है, जिनकी वजह से विवाद पैदा होता है। वाद—हेतुक की वजह से ही, वादी को अदालत जाने का कानूनी अधिकार मिलता है। इसलिए वो वादी जो अदालत के समक्ष उचित इरादे से नहीं आते हैं, वे सुनवाई के हकदार नहीं होते हैं और वास्तव में, ऐसे व्यक्ति किसी भी न्यायिक फोरम से किसी भी राहत के हकदार नहीं हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए सीपीसी में आदेश 7 रूल 11 को जोड़ा गया है जिससे अदालत ऐसे वादपत्रों (Plaints) को खारिज कर सके जो उचित वाद—हेतुक (Cause of Action) प्रकट नहीं करते हैं। हालाँकि, सीपीसी के आदेश 7 रूल 11 में अन्य कारक भी दिए गए हैं जिनके चलते एक वादपत्र (plaint) को निरस्त किया जा सकता है, लेकिन वो सभी स्वभाव से क्लेरिकल हैं, लेकिन जब एक वादपत्र अपने वाद—हेतुक (Cause of Action) को ही प्रस्तुत न करे तो मामला अदालत की व्याख्या पर निर्भर करता है (उच्चतम न्यायालय के तमाम फैसलों के मद्देनजर) कि आखिर कौनसा वादपत्र (Plaint), अपने वाद—हेतुक (Cause of Action) को प्रकट करता और कौन सा नहीं करता।

(2) द्वितीय अपील— सिविल प्रक्रिया संहिता (CPC), 1908 की धारा 100 के तहत, अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पहली अपील में दिए गए फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में दूसरी अपील की जा सकती है। हालाँकि, इस अधिकार का इस्तेमाल सिर्फ उन अहम कानूनी मुद्दों के लिए किया जा सकता है, जो अपील स्वीकार किए जाने के समय या बाद में उठाए जाएं। अगर मामले में कोई कानूनी मुद्दा सीधे तौर पर पार्टियों के अधिकारों को प्रभावित करता है या आम जनता की चिंता का विषय है, तो उसे अहम माना जाएगा।

आयोग को आर.टी. आई. एक्ट की धारा 19(3) के अंतर्गत दाखिल एक अपील का न्यायनिर्णयन करने और वह अपेक्षित सूचना, जब वह केन्द्रीय जन सूचना अधिकारी (सीपीआईओ) या प्रथम अपीलीय अधिकारी के स्तर से प्रदान नहीं की गई है, को प्रदान करने का आदेश जारी करने की शक्तियाँ हैं।

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अनुसार, जिला न्यायालय के फैसले के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। यदि डिफ्री एकपक्षीय रूप से पारित की जाती है तो अपील संभव है।

यदि उच्च न्यायालय को यह पता चलता है कि कोई महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा मौजूद है तो वह निर्णय देगा।

यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि दूसरी अपील तथ्यात्मक अशुद्धियों के बजाय एक महत्वपूर्ण कानूनी मामले पर आधारित है।

सीपीसी के तहत दूसरी अपील : के बारे में

सी.पी.सी. के अंतर्गत दूसरी अपील का प्रावधान धारा 100 के अंतर्गत किया गया है। इसमें कहा गया है कि, जब तक कि इसके विपरीत कोई विशिष्ट नियम न हों, अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पहली अपील में दिए गए निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जा सकती है। हालाँकि, इस खंड द्वारा दिया गया अधिकार अपील स्वीकार किए जाने के समय या बाद में उठाए गए महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दों तक ही सीमित है। सीपीसी की धारा 100 के तहत दूसरी अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है, यदि कोई महत्वपूर्ण और सारवान मुद्दा उठाया जाता है। यदि मामले में कानूनी मुद्दा सीधे और महत्वपूर्ण रूप से पक्षों के अधिकारों को प्रभावित करता है या आम जनता की चिंता का विषय है, तो इसे सारवान माना जाएगा।

दूसरी अपीलरू प्रकृति और दायरा—

प्रकृति—

अपील करने की क्षमता विरासत में मिलने के बजाय कानून द्वारा स्थापित की जाती है। मुकदमा करने की क्षमता प्रकृति में जन्मजात होती है। यह अधिकार मुकदमा दायर करने की तारीख से प्रभावी होता है।

अपीलीय न्यायालय का निर्णय निर्णायक है। किसी अधिकार को शून्य घोषित करने से पहले कानून को उसे शून्य घोषित करना होगा।

दायरा—

निम्नलिखित स्थितियाँ ही ऐसी हैं जिनमें द्वितीय अपील का प्रयोग किया जा सकता है—

- (1) एक कानूनी सवाल उठाया गया है।
- (2) कानूनी प्रश्न महत्वपूर्ण होना चाहिए।
- (3) सी.पी.सी. धारा 100 में निर्दिष्ट अतिरिक्त स्पष्टीकरण।
- (4) तथ्य का गलत तरीके से हल किया गया प्रश्न द्वितीय अपील का मानदंड नहीं होना चाहिए।

सीपीसी के तहत दूसरी अपील का आधार क्या है ?

धारा 101 के अनुसार, “किसी अन्य आधार पर दूसरी अपील नहीं की जा सकती— धारा 100 में उल्लिखित आधार के अलावा कोई दूसरी अपील दायर नहीं की जा सकती।” नतीजतन, यह स्पष्ट रूप से किसी अन्य धारा 100 कारण के आधार पर दूसरी अपील को प्रतिबंधित करता है। दूसरी अपील के लिए निम्नलिखित औचित्य हैं—

- (1) अपील में एक महत्वपूर्ण कानूनी मामला उठाया जाना चाहिए, जिसे अदालत विकसित कर सकती है या पार्टी अपील के ज्ञापन में उठा सकती है;
- (2) कि जिन मामलों में डिफ्री एकपक्षीय रूप से जारी की गई थी, वहां द्वितीय अपील दायर की जा सकेगी;

दूसरी अपील: मामले के फैसले

अन्नापूरानी अम्मल बनाम जी. थंगापोलम मामले में यह निर्णय लिया गया था कि उच्च न्यायालय केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब कोई महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा हो।

ज्ञानोबा भाऊराव बनाम मारुति भाऊराव मनोर मामले में यह निर्णय लिया गया कि यहां कोई कानूनी मुद्दा नहीं है और तथ्य का निर्धारण साक्ष्य की प्रबलता के विपरीत है।

(3) डिफ्री घाटी— सी.पी.सी. की धारा 2(3) डिफ्री धारक शब्द को परिभाषित करती है। डिफ्री धारक का अर्थ है कोई भी व्यक्ति जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई हो या निष्पादन योग्य कोई आदेश दिया गया हो। डिफ्री धारक शब्द उस व्यक्ति को दर्शाता है जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई हो।

डिफ्रीधारक की विशेषताएँ—

पक्ष में डिफ्री या आदेश

डिफ्री—धारक की प्राथमिक विशेषता उनके पक्ष में एक डिफ्री या निष्पादन योग्य आदेश का अस्तित्व है। इसका मतलब यह है कि डिफ्री या आदेश को एक अधिकार प्रदान करना चाहिए या एक दायित्व लागू करना चाहिए जिसे निष्पादन प्रक्रिया के माध्यम से लागू किया जा सकता है।

मुकदमे के पक्षों तक सीमित नहीं

डिफ्री—धारक को मूल मुकदमे में पक्षकार होना आवश्यक नहीं है। धनी राम गुप्ता बनाम लाला श्री राम मामले में इस पहलू पर जोर दिया गया था, जहां सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया था कि डिफ्री—धारक कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसके पक्ष में डिफ्री पारित की गई हो, भले ही मूल कार्यवाही में उनकी भागीदारी हो या न हो।

कार्यान्वयन का कानूनी अधिकार

डिफ्री—धारक को डिफ्री के निष्पादन की मांग करने के लिए कानूनी रूप से हकदार होना चाहिए। यह अधिकार डिफ्री की शर्तों से या न्यायालय द्वारा निर्धारित डिफ्री—धारक के कानूनी अधिकारों से उत्पन्न हो सकता है।

डिफ्री धारक पर न्यायिक व्याख्या

धनी राम गुप्ता बनाम लाला श्री राम इस मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला कि डिफ्री—धारक शब्द व्यापक है और इसमें कोई भी व्यक्ति शामिल है जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई है। कोर्ट ने कहा— “जब तक वह व्यक्ति जिसका नाम किसी डिफ्री पर अंकित है, वह व्यक्ति है जिसके पक्ष में डिफ्री पारित की गई है, तब तक ऐसे व्यक्ति को डिफ्री—धारक माना जाना चाहिए।” यह निर्णय इस बात पर बल देता है कि डिफ्री में अंकित नाम, डिफ्रीधारक की पहचान के लिए महत्वपूर्ण है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति वादी ही हो।

अजुधिया प्रसाद बनाम यूपी सरकार मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने "डिक्री धारक" के दायरे पर आगे विस्तार से बताया—

“अब इससे यह स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति के पक्ष में निष्पादन योग्य आदेश दिया गया है, वह डिक्री धारक भी है। इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि डिक्री धारक को मुकदमे में पक्षकार होने की आवश्यकता नहीं है। वह शर्कोई भी व्यक्ति हो सकता है।” यह मामला इस बात को रेखांकित करता है कि डिक्री-धारक कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसे निष्पादन योग्य आदेश का लाभ प्राप्त हो, तथा यह शब्द की व्यापक प्रयोज्यता पर बल देता है।

(4) निर्णीत श्रेणी— सी.पी.सी. की धारा 2(10) में जजमेंट—देनदार को परिभाषित किया गया है। जजमेंट—देनदार का अर्थ है कोई भी व्यक्ति जिसके विरुद्ध कोई डिक्री पारित की गई हो या निष्पादन योग्य कोई आदेश दिया गया हो। इस परिभाषा में मृतक जजमेंट—देनदार का कानूनी प्रतिनिधि शामिल नहीं है।

(5) अपीलीय न्यायालय की शक्तियाँ— (1) अपील का विषय बना किसी निर्णय आदेश या फैसले के पूरे या आंशिक हिस्से के बारे में अपनी शक्तियाँ इस्तेमाल करना।

(2) लागत आदेश बनाना।

(3) अपीलीय न्यायालय का आदेश उसी तरह लागू किया जाएगा जैसे प्रथम दृष्टया न्यायालय का आदेश लागू किया जाता है।

(4) विनियमों की धारा 12य3द्ध के तहत रहते हुए या जब तक अन्यथा आदेश न दिया जाए अपील न्यायालय मौखिक साक्ष्य या ऐसा साक्ष्य स्वीकार नहीं करेगा जो निचली अदालत के सामने न हो।

(5) किसी अपील की सुनवाई के समय कोई पक्षकार अपने आवेदन में शामिल न किए गए किसी मामले पर तब तक भरोसा नहीं कर सकता जब तक कि अपील न्यायालय इसकी अनुमति न दे।

B.A.LL.B.-8th Sem. Paper-IV Law and the Child

प्रश्न न० 1— भारत के संविधान के अन्तर्गत बालकों को प्रदत्त मूल अधिकारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— बालकों के लिए विशेष उपबन्ध— अनुच्छेद 15 (3) में यह उपबन्ध है कि अनुच्छेद 15 की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए उपबन्ध बनाने में बाधा न होगी।

खण्ड (3) और (4) वास्तव में खण्ड (1) व (2) में दिए गए सामान्य नियम के अपवादस्वरूप हैं। यद्यपि खण्ड (1) व (2) में लिंग के आधार पर विभेद वर्जित है फिर भी खण्ड (3) के अनुसार बालकों के लिए विशेष व्यवस्था सम्भव होगी। खण्ड (3) के कारण ही बसों, रेलगाड़ियों या सार्वजनिक स्थानों पर स्त्रियों के अलग बैठने या निकलने की व्यवस्था संविधान के प्रतिकूल नहीं कही जा सकती।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 497 सोलह वर्ष से कम आयु के बच्चों तथा स्त्रियों को छोड़कर किसी अपराधी को जमानत पर छोड़ने से मना करती थी यदि उस पर मृत्यु से दण्डनीय अपराध का आरोप हो। इस धारा को मु. चोकी बनाम राजस्थान तथा दत्तात्रेय बनाम मुम्बई में सांविधानिक घोषित किया गया।

आन्ध्र प्रदेश सरकार बनाम विजय कुमार में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 15 (3) और अनुच्छेद 16 का समरस निर्वचन करना चाहिए। अनुच्छेद 16 (2) जो लिंग के आधार पर भेद भाव प्रतिषेध करता है, अनुच्छेद 15 (3) के अधीन समझना चाहिए।

बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अनुच्छेद 21 क—संविधान (छियासीवां संशोधन) अधिनियम, 2002 द्वारा एक नया अनुच्छेद 21 — क के अन्तरु स्थापित किया गया है। अनुच्छेद 21 क में यह उपबन्ध कर दिया गया है कि राज्य 6 से 14 वर्ष के प्रत्येक बालक के लिए निः शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था ऐसी रीति से करेगा जैसी कि विधि द्वारा निर्धारित की जाए।

इस संशोधन से पूर्व निरु शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध अनुच्छेद 45 में था जो निदेशक तत्वों के अध्याय में है। अनुच्छेद 45 में उपबन्ध था कि राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की अवधि के भीतर सभी बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा। यह उपबन्ध नीति के निदेशक तत्वों के अध्याय में होने के कारण न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं थे यद्यपि उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्रप्रदेश में उच्चतम न्यायालय ने इसे अनुच्छेद 21 के अधीन मानव गरिमा के साथ जीने के अधिकार में शामिल माना। छियासीवां संशोधन ने इसे प्रत्यक्ष रूप से अनुच्छेद 21 क में उपबन्धित करके मूल अधिकारों के अध्याय में शामिल कर दिया। अनुच्छेद 21 क और 45 के उपबन्धों में दो महत्वपूर्ण अन्तर हैं 1. अनुच्छेद 21 क में कोई समय सीमा नहीं है यह तुरन्त प्रभावी है। 2. अनुच्छेद 21 में मूल अधिकार केवल 6 वर्ष से 14 वर्ष के बीच के बालकों को उपलब्ध है। 6 वर्ष से कम के बालकों के लिए अब अनुच्छेद 45 में उपबन्ध कर दिया गया है इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 51 क में खण्ड (V) जोड़ कर माँ बाप या संरक्षक का यह मूल कर्तव्य कर दिया है कि वह 6 वर्ष से 14 वर्ष के बालकों को शिक्षा का अवसर दें।

शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against exploitation) Articles 23 — 24—अनुच्छेद 23 व 24 द्वारा सभी व्यक्तियों को, चाहे वे नागरिक हों या गैर नागरिक, शोषण के विरुद्ध अधिकार देते हैं। अनुच्छेद 23 में मानव के दुर्व्यापार (traffic in human beings) और बलात् श्रम (forced labour) का प्रतिषेध किया गया है। इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। अनुच्छेद 24 चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखाने, खानों आदि में खतरनाक कार्य करने के लिए नियोजित करने पर प्रतिबन्ध लगाता है जिससे उनका स्वास्थ्य खराब न हो और उनके समुचित विकास में बाधा न है।

1. मानव के दुर्व्यापार (traffic in human beings) और बलात् श्रम (forced labour) का प्रतिषेध (prohibition)— गुलामी प्रथा के तहत मनुष्यों को किसी अन्य सम्पत्ति या पालतू पशुओं की तरह खरीदा बेचा जाता था। गुलामी प्रथा किसी न किसी कण में अधिकांश देशों में प्रचलित थी। आदमियों को मजदूरी और औरतों को मजदूरी या वेश्यावृत्ति के लिए खरीदा व बेचा जाता था। इस प्रकार की स्थिति जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रतिकूल थी।

इस परिपेक्ष्य में अनुच्छेद 23 में निम्नलिखित उपलब्ध किए गए —

(i) मानव के दुर्व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलात् श्रम प्रतिषिद्ध किया जाता है। और इस उपबन्ध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।

(ii) इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य सेवा अधिरोपित करने से निवारित नहीं करेगी। ऐसी सेवा अधिरोपित करने में राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि यह राज्य का दायित्व है कि वह देखे कि किसी के मूल अधिकार का उल्लंघन न हो। विशेषतया यह दायित्व उनके प्रति है जो समाज के कमजोर वर्ग के सदस्य हैं और जो शोषण करने वाले सबल वर्ग के विरुद्ध कानूनी लड़ाई नहीं लड़ सकते। नीरजा चौधरी बनाम मध्य प्रदेश में तो उच्चतम न्यायालय ने यहां तक कहा कि बंधुआ मजदूरों को पहचानना और उनको मुक्त कराना ही पर्याप्त नहीं है उनका उचित ढंग से पुनर्वास भी आवश्यक है। अन्यथा गरीबी और विवशता के कारण वे फिर गुलाम बन जायेंगे।

2. राज्य द्वारा अनिवार्य सेवा—

अनुच्छेद 23 के खण्ड (2) में उपबन्ध है कि अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी राज्य अनिवार्य सेवा के लिए प्रविधान कर सकता है परन्तु अनिवार्य सेवा लागू करने में राज्य, धर्म, वंश, जाति या वर्ग के आधार पर विभेद नहीं करेगा। यह आवश्यक नहीं है कि राज्य अनिवार्य सेवा के लिए पैसा दे।

3. कम उम्र के बच्चों को कारखानों आदि में नौकर रखने पर प्रतिबन्ध— अनुच्छेद 24 में यह प्रतिबन्ध है कि चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को किसी कारखाने या खान या किसी संकटमय (hazardous) कार्य के लिए नियोजित नहीं किया जायेगा। इस अनुच्छेद का उद्देश्य बच्चों के स्वास्थ्य की रक्षा करना है जिसे वे आर्थिक दबाव के कारण संकटमय कार्यों में नियोजित न किये जा सकें। अनुच्छेद 39 (ड) में यह निदेशक सिद्धान्त है कि राज्य अपनी नीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े, जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों। अनुच्छेद 39 (च) में भी यह निदेश है कि बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधायें दी जायें और बालकों और अल्पवय (Youth) व्यक्तियों की शोषण से रक्षा की जाय। अनुच्छेद 45 में चौदह वर्ष की आयु तक बालकों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देने का भी निदेश था, परन्तु अब संविधान (छियासीवां संशोधन) अधिनियम, 2002 द्वारा अनुच्छेद 21 के बाद अनुच्छेद 21 क अन्तःस्थापित कर दिया गया है, जिसमें यह उपबन्ध कर दिया गया है कि 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा की जाएगी। इस प्रकार इस रूप में यह मूल अधिकार हो गया है। कारखाना अधिनियम, 1948 की धारा 67 में भी यह उपबन्ध कर दिया गया है कि किसी कारखानों में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे को नौकर नहीं रखा जायेगा।

प्रश्न 2— संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार अधिनियम 1989 के महत्व पर निबन्ध लिखिए।

उत्तर—बालक के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन, 1989— बालकों के सम्बन्ध में “मानवतावाद का क्रमप्रमाण” (मार्च ऑफ ह्यूमेनिटेरियनिस्म) वर्ष 1989 में बालक के अधिकारों पर कन्वेंशन में परिणत हुआ। भारत ने कन्वेंशन को विलम्बित अनुमति प्रदान की है जो यह रेखांकित करता है —

1. बालक मानव अधिकारों के दावाकर्ताओं की विशेष कोटि हैं।
2. बालकों के सम्बन्ध में मानव अधिकारों के मानक समय समय पर भिन्न हो सकते हैं, यहाँ तक कि वयस्कों के मामले में मानव अधिकारों से भी उच्चतर हैं।
3. बालकों के मानव अधिकारों से प्रोद्भूत होने वाली बाध्यताओं से न केवल राज्य या समाज बल्कि स्वयं माता पिता भी आबद्ध होते हैं।

बालक की परिभाषा—कन्वेंशन ने अनुच्छेद-1 में यह निर्दिष्ट किया है कि 18 वर्ष से कम के सभी व्यक्तियों को बालक माना जाना चाहिए जब तक कि सदस्य राष्ट्रों की विनिर्दिष्ट विधियाँ, जो बालक के लिए प्रयोज्य हों, के अधीन पूर्वतर प्राप्तवयता प्राप्त न की गई हो। ‘बालक’ की परिभाषा विभिन्न श्रम विधियों, किशोर न्याय अधिनियमों तथा बालक शिक्षा विधियों के अन्तर्गत भिन्न हो सकती हैं।

बालकों के अधिकार का क्षेत्र एवं विस्तार—इस अधिनियम के अन्तर्गत कन्वेंशन ने बालक के अधिकारों को सबसे अधिक व्यापक और दूरदर्शी मान्यता प्रदान की है। यद्यपि इन में से अधिकांश अधिकारों को पारम्परिक समूहीकरण में रखा जा सकता है वे तीन समूहों में विभक्त हैं (क) नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार, (ख) आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकार, तथा (ग) सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार। कन्वेंशन ने अधिकारों की कतिपय नई धारणात्मक कोटियों को निर्दिष्ट किया है जैसे कि स्वापक औषधियों एवं मनःप्रभावी पदार्थों से प्रभावित न होने वाले अधिकार बालक अधिकारों को दिया गया इतना विस्तार कन्वेंशन को एक ऐसा एजेन्डा बुनाता है जिसे भविष्य में क्रमशः प्राप्त किया जा सकता है।

अपचारी एवं उपेक्षित बालकों सम्बन्धी विधियाँ— बालक के अधिकारों पर कन्वेंशन 1989 में विनिर्दिष्ट रूप से अपचारी अथवा पूर्व — अपचारी रूप में नामपत्रित (labelled) बालकों के अधिकारों को मान्यता दी गयी। अनुच्छेद 40 विनिर्दिष्ट रूप से अपचारी बालकों से सम्बन्धित हैं तथा उसमें उन बालकों के मामलों को प्रक्रमणिक (Processing of cases) करने की मानवीय, मर्यादित एवं उचित प्रक्रिया की व्यवस्था की गयी है जिनका दाण्डिक विधियों का उल्लंघन करना अभिकथित है। अनुच्छेद 37 कुछ निश्चित अमानवीय सजाओं एवं निरंकुश गिरफ्तारी, आदि का प्रतिषेध करता है। अनुच्छेद 25 भी यह अभिबंधित करता है कि राज्य को प्रदान की गयी, बालकों को प्रदत्त देख रेख, संरक्षण एवं संव्यवहार सम्बन्धी सेवाओं का समय समय पर पुनर्विलोकन किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 26 एवं 27 का उन उपेक्षित किशोरों के लिए विशेष महत्व है जिसकी सामाजिक सुरक्षा एवं चहुमुखी विकास को राज्य के दायित्व के रूप में मान्यता दी गयी है। किशोर न्याय अधिनियम, 1986 में अपचारी किशोरों के अलावा उपेक्षित किशोरों को भी देखरेख एवं संरक्षण, आदि प्रदान करने के लिए व्यापक ढाँचे को निर्दिष्ट किया गया है।

प्रश्न 3— एक हिन्दू अवयस्क के प्राकृतिक संरक्षक से क्या समझते हैं? प्राकृतिक संरक्षक के अधिकारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— हिन्दू अवयस्कता एवं संरक्षकता अधिनियम, 1956— इस अधिनियम में अवयस्क अभिप्रेत है —

- (क) “अप्राप्तवय” से यह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसने अठारह वर्ष की आयु पूरी न की हो।
- (ख) संरक्षक से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसकी देखरेख में किसी अप्राप्तवय का शरीर या उसकी सम्पत्ति या उसकी शरीर और सम्पत्ति दोनों हों और इसके अन्तर्गत आते हैं —
- (i) नैसर्गिक संरक्षक,
 - (ii) अप्राप्तवय के पिता या माता की विल द्वारा नियुक्त संरक्षक,
 - (ii) न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित संरक्षक, तथा

(iv) किसी प्रतिपाल्य अधिकरण से सम्बन्ध रखने वाली किसी अधिनियमिति के द्वारा या अधीन संरक्षक की हैसियत में कार्य करने के लिए सशक्त व्यक्ति ।

(ग) नैसर्गिक संरक्षक से अभिप्रेत हैं धारा 6 में वर्णित संरक्षकों में से कोई भी संरक्षक ।

हिन्दू अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक हिन्दू अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक अप्राप्तवय के शरीर के बारे में और (अविभक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में उसके अविभक्त हित को छोड़कर) उसकी सम्पत्ति के बारे में भी. निम्नलिखित हैं—

(क) किसी लड़के या अविवाहित लड़की की दशा में पिता और उसके पश्चात् माता परन्तु जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी,

(ख) अधर्मज लड़के या अधर्मज अविवाहित लड़की की दशा में माता और उसके पश्चात् पिता,

(ग) विवाहित लड़की की दशा में पति परन्तु को भी व्यक्ति यदि —

(क) वह हिन्दू नहीं रह गया है, या

(ख) वह वानप्रस्थ या यति या संन्यासी होकर संसार को पूर्णत और अन्तिम रूप से त्याग चुका है, तो इस धारा के उपबन्धों के अधीन अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का हकदार न होगा ।

स्पष्टीकरण — इस धारा में “पिता” और “माता” पदों के अन्तर्गत सौतेला पिता, सौतेली माता नहीं आते ।

दत्तक पुत्र के नैसर्गिक संरक्षक— ऐसे दत्तक पुत्र की जो अप्राप्तवय हो, नैसर्गिक संरक्षकता दत्तकग्रहण पर दत्तक पिता और उसके पश्चात् दत्तक माता को संक्रान्त हो जाती हैं ।

नैसर्गिक संरक्षक की शक्तियाँ— (1) इस धारा के उपबन्धों के अनुसार किसी भी हिन्दू अप्राप्तवय का नैसर्गिक संरक्षक उन सब कार्यों को करने की शक्ति रखता है जो उस अप्राप्तवय के फायदे के लिए या उस अप्राप्तवय की सम्पदा के आपन, संरक्षण या फायदे के लिए आवश्यक या युक्तियुक्त और उचित हों, किन्तु संरक्षक किसी भी दशा में अप्राप्तवय को वैयक्तिक प्रसंविदा के द्वारा आबद्ध नहीं कर सकता ।

(2) नैसर्गिक संरक्षक न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना —

(क) न तो अप्राप्तवय की स्थावर संपत्ति के किसी भी भाग को बन्धक या भारित अथवा विक्रय, दान या विनिमय द्वारा या अन्यथा अन्तरित करेगा, और

(ख) न ऐसी सम्पत्ति के किसी भी भाग को पाँच वर्ष से अधिक की अवधि के लिए या जिस तारीख को अप्राप्तवय प्राप्तव्य में प्रवेश करेगा उस तारीख से एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए पट्टे पर देगा ।

(3) नैसर्गिक संरक्षक द्वारा उपधारा (1) या उपधारा (2) के उल्लंघन में किया गया स्थावर सम्पत्ति का कोई भी व्ययन, अप्राप्तवय की या उससे व्युत्पन्न अधिकार के अधीन दावा करने वाले किसी भी व्यक्ति की प्रेरणा पर शून्यकरणीय होगा ।

(4) कोई भी न्यायालय नैसर्गिक संरक्षक की उपधारा (2) में वर्णित कार्यों में से किसी को भी करने की अनुज्ञा न देगा सिवाय उस दशा में जब कि वह आवश्यक हो या अप्राप्तवय की भलाई के लिए हो ।

(5) उपधारा (2) के अधीन न्यायालय की अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के बारे में संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 सर्वथा ऐसे लागू होगा मानों वह आवेदन उस अधिनियम की धारा 29 के अधीन न्यायालय की अनुज्ञा अभिप्राय करने के लिए आवेदन हो, और विशिष्ट—

आवेदन से सम्बन्धित कार्यवाहियों उस अधिनियम के अधीन, उसकी धारा 4 क के अर्था के अन्तर्गत कार्यवाहिया समझी जाएगी, न्यायालय उस प्रक्रिया का अनुपालन करेगा और उसे वे शक्तियाँ प्राप्त होगी जो उस अधिनियम की धारा 31 की उपधाराओं (2) (3) और (4) में विनिर्दिष्ट हैं; तथा

न्यायालय के ऐसे आदेश की अपील, जो नैसर्गिक संरक्षक को इस धारा की उपधारा (2) वर्णित कार्यों में से किसी भी कार्य को करने की अनुज्ञा देने से इन्कार करे, उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय के विनिश्चयों की अपीलें मामूली तौर पर होती हैं ।

(6) इस धारा में न्यायालय से वह नगर सिविल न्यायालय या ऐसा जिला न्यायालय या संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 4 क के अधीन सशक्त ऐसा न्यायालय अभिप्रेत है जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वह स्थावर सम्पत्ति जिसके बारे में आवेदन किया गया है, स्थित हो और जहाँ कि स्थावर सम्पत्ति ऐसे एक से अधिक न्यायालयों की अधिकारिता के भीतर स्थित हो वहाँ वह न्यायालय अभिप्रेत है, जिसकी स्थानीय सीमाओं की अधिकारिता के भीतर उस सम्पत्ति का कोई भी प्रभाग स्थित हो ।

अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि होगा न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के किसी हिन्दू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किए जाने में अप्राप्तवय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा ।

प्रश्न 4— भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 के अन्तर्गत एक अवयस्क को क्या संरक्षण प्रदान किया गया है? सांविधिक प्रावधानों एवं निर्णीत वादों की सहायता से स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर—अवयस्क कौन हैं (Who is minor)— वयस्कता के लिए निर्धारित आयु के आधार पर अवयस्क से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसने वयस्कता की आयु प्राप्त नहीं की है अर्थात् अवयस्क से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो वयस्क नहीं है । इस अर्थ में 18 वर्ष से कम आयु का व्यक्ति अवयस्क है । यदि किसी व्यक्ति को अवयस्क के शरीर या सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त किया जा रहा है तो इस उद्देश्य के लिए 21 वर्ष से कम आयु का व्यक्ति भी अवयस्क होता है ।

अवयस्क के करार की प्रकृति (Nature of minor's agreement) धारा— 10 के अनुसार यह आवश्यक है कि पक्षकार संविदा के लिए समक्ष हो और धारा 11 कहती है कि अवयस्क संविदा के लिए समक्ष नहीं हैं, केवल वयस्क व्यक्ति ही संविदा कर सकता है । परन्तु ये दोनों धाराएँ यह नहीं बताती कि अवयस्क कोई करार हैं तो वह करार शून्य (void) होगा या शून्यकरणीय (Voidable) अधिनियमों में कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं होने से इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न न्यायिक

निर्णयों के हवाले से ही दिया जा सकता है। सन् 1903 तक भार के विभिन्न उच्च न्यायालयों ने इस विषय पर विरोधाभासी निर्णय दिये थे। इस विरोधाभास को सन् 1903 में **प्रिवी कौंसिल ने मोहरी बनाम धर्मोदास घोष (Mohari Bidi Vs Dhamdas Ghose)** नामक ऐतिहासिक वाद में दूर कर निर्णय दिया कि अवस्यक संविदा करने के लिए सक्षम नहीं हैं। अतः अवस्यक द्वारा किया गया करार शून्य (टवपक) है।

इस वाद में धर्मादास घोस नामक अवस्यक ने 20 जुलाई, 1895 को अपने कुछ मकानों को बंधक रखकर कलकत्ता के एक साहूकार ब्रह्मदत्त से (मोहरी बीबी का पति) 20,000 रुपये 12 प्रतिशत ब्याज पर एक बंधक पत्र लिखकर ऋण लिया। ऋणदाता ब्रह्मदत्त ने इस ऋण के एवज में 10, 500 रुपये की रकम तुरन्त दे दी। ब्रह्मदत्त ने धर्मादास घोष से यह घोषणा भी लिखवा ली कि वह 17 जून को वयस्क हो गया है। 10 सितम्बर, 1895 को अवस्यक धर्मादास घोष ने अपनी मां की संरक्षकता में उसे वाद मित्र (Next friend) बनाकर न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया कि जब उसने बंधक पत्र लिखा था, तब वह अवस्यक था। अतः इस संविदा को शून्य घोषित कर दिया जाये।

प्रतिवादी ब्रह्मदत्त ने बचाव में कहा कि बंधक पत्र लिखते समय धर्मादास वयस्क था और तब उसे यह मालूम नहीं था कि वह अवस्यक था। अगर वह अवस्यक था भी, तो उसके द्वारा लिखा गया घोषणा पत्र यह बताता है कि वह वयस्क था। उसने यह लिखित घोषणा प्रतिवादी को धोखा देने के लिए की थी। अतः वादी (धर्मादास घोष) किसी प्रकार का अनुतोष (Relief) पाने का अधिकारी नहीं है। उसकी कोई सहायता न की जाये और यदि की भी जाय तो उसे (ब्रह्मदत्त) को 10,500 रुपये लौटा दिये जाये। कलकत्ता के दोनों निचले न्यायालयों ने (उच्च न्यायालय सहित) धर्मादास के पक्ष में निर्णय दिया। इस निर्णय के विरुद्ध ब्रह्मदत्त ने प्रिवी कीसिल में अपील की। जब अपील चल रही थी तो भात की मृत्यु हो गई परिणामस्वरूप उसकी पत्नी मोहरी बीबी ने अपील की कार्यवाही चलाई। प्रिवी कौंसिल ने निर्णय दिया कि अवस्यक के साथ किया गया करार व्यर्थ है, व्यर्थनीय नहीं अतः यह करार संविदा नहीं है इसलिए न्यायालयों द्वारा करार प्रवर्तनीय नहीं होने से बंधक शून्य था और ऋण की जो रकम दे दी गई थी उसे भी वापस करने के लिए धर्मादास घोष बाध्य नहीं है।

प्रिवी कौंसिल का एक अन्य वाद **सरवन जान बनाम फखरुद्दीन मोहम्मद चौधरी (Sarwarjan Vs Fakhruddin Mohd Chaudhary)** उल्लेखनीय है। इस बाद में अवस्यक के संरक्षक ने अवस्यक की ओर से कुछ अचल सम्पत्ति क्रय करने का करार किया परन्तु अवस्यक द्वारा उस सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए वाद लाने पर प्रिवी कौंसिल ने निर्णय दिया कि संरक्षक भी अवस्यक की ओर से संविदा करने का हकदार नहीं है। अतः ऐसी संविदा का विनिर्दिष्ट पालन (Specific performance) नहीं हो सकता है।

प्रश्न 5— किशोर न्याय अधिनियम, 2000 की मुख्य विशेषतायें क्या हैं? विवेचना कीजिए।

उत्तर— किशोर न्याय अधिनियम, 2000 की मुख्य विशेषतायें (Main Features Juveniles Justice Act, 2000)—

किशोर न्याय अधिनियम 2000 की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं —

1. किशोर न्याय सामान्य विधि (Common Law Juvenile Justice)— किशोर न्याय अधिनियम, 2000 से पहले किशोर न्याय अधिनियम, 1986 लागू था। वह विधान अपने उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्रभाव में नहीं ला पा रहा था। बाल अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मानकों के लिए कोई विधि नहीं थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए इस अधिनियम को प्रभाव में लाया गया है।

2. अधिनियम का उद्देश्य (Objects of the Act)— अधिनियम की प्रस्तावना में अधिनियम का उद्देश्य बताया गया है। अधिनियम का उद्देश्य — “देखरेख तथा संरक्षण की आवश्यकता वाले चालकों की उचित देखभाल की व्यवस्था करने, (उनके) संरक्षण और उनके विकास संबंधी आवश्यकताओं के पोषण द्वारा उपचार और न्याय निर्णयन तथा मामलों के व्ययन में बाल मैत्री अवधारणा को अंगीकार करते हुए बालकों के सर्वोत्तम हित में इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न संस्थानों के माध्यम से उनके अंतिम पुनर्वास हेतु विधि विरोधी किशोरों, से सम्बन्धित विधि को संशोधित तथा समेकित करना है।”

3. परिभाषायें (Definitions)— अधिनियम की धारा 2 में विभिन्न शब्दावलिओं को परिभाषित किया गया है। अधिनियम में भीख मांगना, देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता में बालक सम्प्रेषण गृह, परिवीक्षा अधिकारी आदि शब्दों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। उपरोक्त परिभाषयें अधिनियम के प्रावधानों की व्याख्या करने में पूर्ण सहायक है।

4. सक्षम अधिकारी एवं बोर्ड (Competent Authority and Board)— अधिनियम के अध्याय दो में अधिनियम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किशोरों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile Justice Board) संप्रेषण गृह आदि का उल्लेख किया है। इनके अधिकारों तथा शक्तियों के बारे में बताया गया है।

5. किशोर का सामाजिक संरक्षण (Social Protection of Juvenile)— इस अधिनियम में यह विशेष तौर पर उल्लेखित किया गया है कि किशोर के अधिकारों को सामाजिक रूप से संरक्षित रखा जाये। इसके लिये अधिनियम में बाल कल्याण समिति बाल गृह सामाजिक संपरीक्षण जैसे प्रावधानों को उपबन्धित किया गया है।

6. पुनर्वास (Re-Habilitation)— अधिनियम में किशोरों के पुनर्वास के लिये आवश्यक प्रक्रिया को उल्लेखित किया गया है, साथ ही उत्तर रक्षा संगठन (After care organization) की उपयोगिता पर भी बल दिया गया है।

7. अन्य प्रावधान (Other Provisions) अधिनियम में किशोरों के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के सन्दर्भ में अनेक प्रावधानों को उल्लेखित किया गया है।

प्रश्न 6— बालश्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 के उद्देश्य क्या हैं? क्या अधिनियम उन उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफल रहा है? विवेचना कीजिए।

उत्तर— बालक श्रम (प्रतिषेध और विनियमन) अधिनियम, 1986—कतिपय विनिर्दिष्ट नियोजनों में 14 अथवा 15 वर्ष से कम के बालश्रम का प्रतिषेध करने वाले बहुत से अधिनियम थे। तथापि यह तय करने के लिए किसी भी विधि में कोई प्रक्रिया निर्दिष्ट नहीं की गयी थी कि किन नियोजनों, व्यवसायों अथवा प्रसंस्करणों में बालकों के नियोजन पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। अधिकांश ऐसे नियोजनों में बालकों की कार्यशर्तों को विनियमित करने की भी कोई विधि नहीं थी जहाँ उन्हें शोषणकारी शर्तों के अन्तर्गत कार्य करने से प्रतिषिद्ध किया गया हो। अतः इस अधिनियम में निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है—

(1) यह 14 वर्ष से कम के सभी बालकों के नियोजन को समान रूप से प्रतिषिद्ध करने के लिए कतिपय अधिनियमों को संशोधित करता है। इस अधिनियम से पूर्व बाल श्रम का प्रतिबंध करने वाले विभिन्न अधिनियमों में दी गई बालक की परिभाषा समरूप नहीं थी।

(2) यह अधिनियम विनिर्दिष्ट व्यवसायों तथा प्रसंस्करणों में 14 वर्ष से कम के बालकों के नियोजन पर प्रतिबंध लगाता है। धारा 3 में यह उपबंधित किया गया है कि किसी भी बालक को अनुसूची के भाग बी में अपवर्णित व्यवसायों में से किसी में भी अथवा ऐसी किसी कार्यशाला में भी कार्य करने के लिए नियोजित नहीं किया जायेगा अथवा उसे अनुमति प्रदान नहीं की जायेगी जिसमें अनुसूची के भाग दी में अपवर्णित प्रसंस्करणों में से कोई भी प्रक्रिया की जाती हो सिवाय इसके कि जहाँ किसी कार्यशाला में प्रसंस्करण व्यवसायी द्वारा अपने परिवार की मदद से किया जाता हो अथवा सरकार से सहायता अथवा मान्यता द्वारा अथवा उसे प्राप्त करके स्थापित किसी विद्यालय द्वारा किया जाता हो। अनुसूची के भाग— ए में निम्नलिखित से सम्बन्धित व्यवसायों को प्रगणित किया गया है—

1. रेलवे द्वारा यात्री, सामान, डाक का परिवहन ।
2. रेलवे परिसर में अंगारों को चुनना (Cinder Picking), राख के गड्ढों को साफ करना अथवा निर्माण संक्रियाएँ।
3. कैटरिंग के अन्तर्गत रेलवे स्टेशन पर कार्य जिसमें कि इसके किसी कार्यकर्ता अथवा बेचने वालों का आना जाना सम्मिलित हैं।
4. किसी रेलवे स्टेशन के संनिर्माण से सम्बन्धित कार्य अथवा अन्य कोई कार्य जहाँ रेलवे लाइनों के बीच अथवा उनके निकट समीप में ऐसा कोई कार्य किया जाता है।
5. किसी पत्तन की परिसीमाओं के भीतर कोई पत्तन प्राधिकारी

अनुसूची के भाग में निम्नलिखित प्रसंस्करणों को निर्दिष्ट किया गया है—

1. बीड़ी बनाना।
2. दरी बुनना।
3. सीमेंट की बोरियों समेत सीमेंट का विनिर्माण।
4. कपड़ा छपाई, रंगाई तथा बुनाई।
5. माचिसो, विस्फोटकों तथा आतिशबाजियों का निर्माण।
6. अभ्रक काटना तथा खण्डित करना।
7. लाह विनिर्माण।
8. साबुन विनिर्माण।
9. चमड़ा काटना।
10. ऊन साफ करना।
11. भवन तथा संनिर्माण उद्योग।

अनुसूची में उल्लिखित सभी व्यवसायों तथा प्रसंस्करणों में जीवन, अंग अथवा स्वास्थ्य को खतरा अन्तर्ग्रस्त होता है। यद्यपि इन व्यवसायों तथा प्रसंस्करणों को प्रगणित करने का प्रयास किया गया है लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई अन्य संकटपूर्ण व्यवसाय अथवा प्रसंस्करण नहीं हैं।

प्रियदर्शिनी जादू वर्कर्स बनाम फूड कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया के वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया कि जहाँ पर मजदूरों का खुले आम शोषण हो रहा हो तो न्यायालय अपनी आंखें बंद नहीं कर सकता है।

एम० सी० मेहता बनाम तमिलनाडू राज्य के वाद में सम्बन्धित राज्यों को निर्देश जारी किया गया था कि बाल श्रम समाप्त किया जाय।

प्रश्न 7— बाल अपराध के कारणों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए और यह भी बताइये कि इस समस्या के समाधान हेतु क्या उपाय किये जाने चाहिए?

उत्तर— बाल अपराध के कारण— वर्तमान में बाल अपराध ने विश्व-व्यापी समस्या का रूप धारण कर लिया है। बाल अपराध के निवारण के लिए विभिन्न उपचारात्मक प्रयत्नों के बावजूद किशोरों में उद्दण्डता, हिंसा तथा कानून का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ती जा रही हैं। कुछ वर्षों में बाल अपराध में अपूर्व वृद्धि हुई है। किशोरों में बढ़ती हुई अपराध के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं —

1. औद्योगीकरण— भारत में औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप गावों और कस्बों का द्रुत गति से शहरीकरण होता जा रहा है जिसके कारण पारिवारिक विघटन, आवास, झुग्गी-झोपड़ियों, भीड़-भड़क्का आदि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

2. मीडिया— कुछ अपराधशास्त्रियों ने प्रसार माध्यम, सिनेमा, दूरदर्शन, आदि को भी बाल अपचरिता का कारण मानते हुए कहा है कि किशोर एवं बालकों के कोमल मन तथा मस्तिष्क पर इन माध्यमों द्वारा दर्शाये जाने वाले छाया चित्रों,

अश्लील या वीभत्स दृश्यों का कुप्रभाव पड़ता है और वे उन्हें अपने वास्तविक जीवन में अनुसरण करने की ओर प्रवृत्त होते हैं और उन्हें अपराधी बना देते हैं। इसी प्रकार अश्लील साहित्य का भी उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. पारिवारिक विघटन— औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के कारण संयुक्त परिवारों का तेजी से विघटन हुआ है तथा उद्योग, नौकरी या धन्धे के निमित्त परिवार के सदस्य इधर-उधर बिखर गए हैं। बच्चों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इतना अधिक व्यस्त है कि उसे अपने बच्चों पर उचित ध्यान देने के लिए भी समय नहीं मिल पाता है।

4. वैवाहिक सम्बन्धों में शिथिलता— वर्तमान समय में तलाक और वैवाहिक-झगड़ों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके कारण पारिवारिक सगेकता (family solidarity) छिन्न-भिन्न सी हो गई है। महिलाओं में पुरुषों के साथ समानता की भावना प्रबल हो जाने के कारण परिवार पर से कर्ता पुरुष का नियंत्रण समाप्त प्रायः होता जा रहा है।

5. जैविक तथा शारीरिक कारण— किशोरों में आपचारिक आचरण का एक अन्य कारण समय से पहले उनकी शारीरिक अपरिपक्वता या बुद्धि का मन्द गति से विकास भी हो सकता है। आजकल लड़कियों में कौमार्यावस्था (Puberty) का आगमन पहले से औसतन 3 या 4 वर्ष पूर्व हो जाता है। लगभग बारह या तेरह वर्ष की आयु से ही बालिकाओं में कौमार्यागमन के जैविक लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं जबकि मानसिक दृष्टि से उनमें इन परिवर्तनों को ठीक से समझने की क्षमता नहीं होती है। फलतः वे बिना सोचे समझे क्षणिक सुख के लिए लैंगिकता की शिकार हो जाती हैं जिनके गम्भीर परिणामों के बारे में उन्हें कल्पना भी नहीं रहती।

6. दीनहीन निराश्रय अभिव्यक्त बच्चों का प्रशासन— लावारिस तथा माता-पिता द्वारा उपेक्षित और त्यागे गये बच्चे प्रायः गन्दी बस्तियों में रहने लगते हैं जहाँ वे असामाजिक तत्वों की कुसंगति में पड़कर अपचारिता में पड़ जाते हैं।

7. निर्धनता— इसमें सन्देह नहीं कि अपचारिता का एक संभाव्य कारण है। माता-पिता या परिवार-जनों की गरीबी तथा निर्धनता के कारण बच्चे अपनी पेट की भूख शान्त करने के लिए अवैध गतिविधियों की ओर आकृष्ट होते हैं जो उन्हें अपचारी बना देती हैं।

8. अशिक्षा, अज्ञान आदि— उपर्युक्त कारणों के आलावा, अशिक्षा, अज्ञान तथा बाल श्रम (child labour) आदि के कारण भी किशोर वयस्कों में अपचारिता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। होटलों, दुकानों या कारखानों में काम करने वाले बाल श्रमिक अपनी अल्पायु तथा अज्ञानता के कारण यह नहीं समझ पाते कि वे अपनी कमाई का पैसा कहीं खर्च करें। अतः वे इसका दुरुपयोग करते हैं और बुरी आदतों में पड़कर अपचारी बन जाते हैं।

बाल अपराध के समाधान हेतु उपाय— बाल अपराध के समाधान हेतु उपाय निम्नलिखित हैं —

1. परिवार का सहयोग— बालक के प्रति परिवार के सदस्यों का पूरा सहयोग होना चाहिए ताकि बालक का सर्वांगीण विकास हो सके और वह अपनी प्रतिभा का सकारात्मक रूप में विकास कर समाज में अग्रणी बन सकें।

2. बालकों के कृत्यों पर नजर— माता-पिता को बालकों की गतिविधियों पर ध्यान रखना चाहिए। जैसे बालक कहीं जाता है, उसके मित्र कौन हैं, इत्यादि। इन बातों पर ध्यान देकर माता-पिता, बच्चों की गतिविधियों पर ध्यान रख सकते हैं।

3. बालों को उचित अनुचित की सीख देना— बालकों को परिवार के सदस्यों द्वारा उचित अनुचित की सीख देते रहना चाहिए ताकि, बालक समाज में अच्छे बुरे का अन्तर पहचान सकें और अपने जीवन को सुगम बना सकें।

4. बालकों के प्रश्नों का समाधान करना— सदैव बालक जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं और ये जिज्ञासा ही उनके ज्ञान में वृद्धि करती हैं। बालकों के प्रश्नों का उचित एवं सटीक उत्तर देना चाहिए ताकि उनमें भ्रम की स्थिति न उत्पन्न हो।

उपरोक्त तथ्यों के अनुसरण से बाल अपराध का समाधान किया जा सकता है। समाज को बाल अपराध से मुक्त कर बालकों के जीवन को एक नया आयाम दिया जा सकता है। जिससे कि वह अपने परिवार, समाज के साथ साथ अपने देश का भी गौरव बढ़ा सकें।

प्रश्न 8— राज्य के नीति — निर्देशक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए जो भारतीय बालकों के कल्याण का प्रयत्न करते हैं?

उत्तर— राज्य के नीति निर्देशक तत्व— संविधान, जो राज्य नीति के कतिपय निर्देशक तत्वों को निर्दिष्ट करता है, के भाग IV में बालकों के अधिकारों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रावधानों को बनाया गया

1. अनुच्छेद 39 में यह उपबन्ध किया गया है कि राज्य विशेषकर निम्न की प्राप्ति हेतु अपनी नीति निदेशित करेगा—

(i) यह कि कर्मचारों, पुरुषों तथा स्त्रियों और नाजुक उम्र के बालकों के स्वास्थ्य तथा बल का दुरुपयोग न हो तथा नागरिक अपनी आयु अथवा बल के लिए अनुपयुक्त व्यवसायों में प्रवेश करने की आर्थिक आवश्यकता से विवश न हो।

(ii) यह कि बालकों को स्वस्थ ढंग से एवं आजादी तथा मर्यादित स्थितियों में विकसित होने के अवसर एवं सुविधाएं दी जायें तथा बाल्यावस्था एवं युवावस्था की नैतिक एवं भौतिक परित्याग से रक्षा की जाये।

एम० सी० मेहता बनाम तमिलनाडु राज्य के वाद में तमिलनाडु राज्य के जिला कामराज में शिवाकाशी की माचिस की फैक्ट्रियों में बालकों के नियोजन की समस्या पर लोकहित याचिका के माध्यम से किसी याचिका में उच्चतम न्यायालय द्वारा विचार किया गया। बालकों की एक बड़ी तादात तुच्छ मजदूरी पर नियोजित की गयी थी। अनुच्छेद 39 (च) को उद्धृत करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि माचिस की तीलियों अथवा अतिशवाजियों के अन्तिम उत्पादन तक की विनिर्माण प्रक्रिया से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित माचिस की फैक्ट्रियों में बालकों के नियोजन की बिल्कुल अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

(2) अनुच्छेद 41 में यह उपबन्ध किया गया है कि राज्य अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की सीमाओं के भीतर शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावकारी उपबन्ध करेगा।

(3) अनुच्छेद 45 में यह उपबन्धित किया गया है कि संविधान के प्रारम्भ होने से 10 वर्ष की अवधि के भीतर बालकों के लिए जब तक वे 14 वर्ष की आयु पूर्ण नहीं कर लेते हैं निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा।

संविधान निर्माताओं ने यह महसूस किया था कि न्यायिक रूप से प्रवर्तनीय शिक्षा का अधिकार व्यवहारिक नहीं हो सकेगा। अतः अनुच्छेद 41 में राज्य को आर्थिक क्षमता तथा विकास की सीमाओं के भीतर शिक्षा के सामान्य अधिकार की व्यवस्था करने की अनुमति दी गयी है लेकिन 14 वर्ष की आयु तक के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। संविधान ने केवल 10 वर्ष की समय सीमा ही नियत की है। तथापि संविधान के प्रवर्तन के वर्षों के पश्चात् ही देश उस लक्ष्य की प्राप्ति करने में असफल रहा है। संवैधानिक प्रावधानों की भावना यह है कि बच्चों को जोखिमों में नहीं डाला जाना चाहिए तथा 14 वर्ष तक उन्हें नियोजित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि बाल्यावस्था रचानात्मक अवधि होती है और अनुच्छेद 45 के निबन्धनों के अनुसार उन्हें निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दी जानी आवश्यक है। तथापि, यह निदेशक तत्व प्रवर्तित नहीं किया जा सका क्योंकि आर्थिक आवश्यकता विकसित बालकों को नियोजन की तलाश करने के लिए विवश करती है। अतः **उच्चतम न्यायालय ने एम० सी० मेहता बनाम तमिलनाडू राज्य** के वाद में यह अभिनिर्धारित किया कि बंडल बाँधने की प्रक्रिया में बालकों को नियोजित किया जा सकता है, लेकिन बंडल बाँधने का यह कार्य विनिर्माण के स्थान से दूर किसी ऐसे क्षेत्र में किया जाना चाहिए जिससे कि दुर्घटना के खतरे को टाना जा सके।

न्यायालय ने इस तथ्य का अवलोकन किया है कि बालकों के कोमल हाथ विनिर्मित उत्पाद की छंटाई करने तथा उसके बंडल बाँधने की प्रक्रिया के लिए अधिक उपयुक्त है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उसकी विशेष अनुकूलनीयता पर विचार करते हुए फैक्ट्रियों में किसी वयस्क कर्मचारी की निर्धारित न्यूनतम मजदूरी का कम से कम 60% बालकों को वही काम करने के लिए दिया जाना चाहिए। तथापि, न्यायालय ने यह बात स्पष्ट की है कि न्यूनतम मजदूरी का उसका संकेत उच्चतर दर निर्धारित करने के मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं करेगा बशर्ते राज्य का इस बात के लिए समाधान हो जाये कि उच्चतर दर विकास क्षय रही हो। न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा, मनोरंजन की विशेष सुविधाएं तथा सामाजीकरण के अवसर प्रदान किये जाने चाहिए। विद्यालय का समय इस प्रकार रामायोजित किया जाना चाहिए कि नियोजन प्रभावित न हो।

यद्यपि मौलिक अधिकारों से भिन्न ये प्रावधान विधि न्यायालय में वाद-योग्य नहीं हैं, लेकिन फिर भी संविधान द्वारा उन्हें देश के शासन में मौलिक घोषित किया गया है। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह भाग। में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार विधियों की रचना करे।

प्रश्न 9— बाल अपराध (अपचारिता) किसे कहते हैं? क्या बाल अपराधो को मृत्युदण्ड दिया जा सकता है?

उत्तर— बाल अपचारिता का अर्थ एवं परिभाषा शब्द—व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपचारिता जिसे अंग्रेजी भाषा में 'डेलीनक्वेन्सी' (Delinquency) कहा जाता है, लैटिन शब्द डेलिनक्वेर (delinquer) से लिया गया है जिसका अर्थ है, 'विलोप करना' (जब वउपज) रोमन काल में इस शब्द का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के प्रति किया जाता था जो सौंपा गया कार्य या कर्तव्य करने में असफल रहते थे। विलियम कॉक्सन (William Coxson) ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सन् 1484 में डेलीनक्वेन्ट्स शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए किया जो किसी जो किसी परम्परागत अपराध के दोषी पाये जाते थे।

सरल शब्दों में, अपचारिता (delinquency) का अर्थ है समाज द्वारा सामान्यतः स्वीकृत आचरण के मापदण्डों से विचारित होना या ऐसा आचरण (दुराचरण) करना जो समाज की स्वीकृत मान्यताओं के विपरीत हो।

अपराधशास्त्रियों ने किशोर अपचारिता की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की है। सामान्यतः अपचारिता (delinquency) से आशय बाल एवं किशोर वयस्कों द्वारा किये गये ऐसे आचरणों से है जिन्हें समाज के लोग अच्छा नहीं मानते तथा लोक हित की दृष्टि से जिनके लिए अपचारी की भर्त्सना, चेतावनी, दण्ड अथवा कोई सुधारात्मक उपाय आवश्यक समझा जाता है। अतः अपचारिता का अर्थ अत्यधिक व्यापक है जिसके अन्तर्गत किशोरों द्वारा अन्य व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार, घृणा, अशिष्ट या अभद्र व्यवहार तथा समाज के प्रति उदासीनता (indifference towards society) आदि सम्मिलित हैं। किशोरों तथा बालकों द्वारा किये गये कुछ अन्य कृत्य जैसे भीख मांगना, आवारागर्दी करना, कुसंगति में रहना, अश्लीलता, देर रात तक अकारण इधर-उधर बाहर घूमना, उठाईगिरी या छोटी-मोटी चीजों की चोरी, नशा करना, जुआ खेलना आदि भी अपचारिता के अन्तर्गत आते हैं जो समाज के पथ भ्रष्ट व्यक्ति प्रायः करते देखे जाते हैं।

'अपचारिता की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि वह आपराधिकता से भिन्न है। अपराध उस कृत्य को कहते हैं जो दण्ड विधि के अन्तर्गत दण्डनीय हो जबकि अपचारिता एक ऐसा कृत्य है जिसे समाज अच्छा नहीं मानता लेकिन आवश्यक नहीं कि उसके लिए कानून में दण्ड का प्रावधान हो। अतः यह कहा जा सकता है कि अपचारिता आपराधिक की पूर्ववर्ती सीढ़ी है जो आगे चलकर अपचारी को अपराधी में परिवर्तित कर सकती है। अपचारिता एक ऐसी पदावली (term) है जो बाल या किशोर व्यक्तियों से जुड़ी हुई है, अर्थात् यदि वही कृत्य किसी वयस्क व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, द्वारा किया जाता है, तो समाज उसे अधिक गम्भीरता से नहीं लेता, परन्तु किशोरों द्वारा उसे किया जाने पर समाज अपना क्षोभ या अप्रसन्नता प्रकट करता है। अतः स्पष्ट है कि अपचारिता के अन्तर्गत ऐसे अनेक कृत्यों का समावेश है जो गैर-अपराधिक स्वरूप के हैं और वयस्कों द्वारा किये जाने पर क्षम्य हैं।

किशोर अपचारिता की परिभाषा के विषय में कोहेन (Cohen) ने कहा है कि अपचारिता से आशय उस प्रश्नगत आचरण से है जो नियमों के किसी संवर्ग से सम्बन्धित है। विभिन्न समुदायों के सामाजिक नियमों में भिन्नता होने के कारण ये देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अलग अलग होते हैं। अतः अपचारिता की परिभाषा में निश्चितता का अभाव है।

रुथ शोन्ली केवन (Ruth Shonie Cavan) के अनुसार विधिक परिभाषा के बावजूद ऐसे बालक को भी अपचारी (delinquent) कहा जाता है, जो अपने समाज विरोधी आचरण द्वारा दूसरों को क्षति या पीड़ा पहुँचाता है या उसके परिवार जन उसे नियन्त्रण से रखना कठिन समझते हैं, क्योंकि वह समाज के लिए गम्भीर चिंता और समस्या का कारण बन जाता है।

अपराधी किशोर है अथवा नहीं, यह अपराध कारित होने के दिन (तारीख) के आधार पर तय होगा— उच्चतम न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों वाली सांविधानिक पीठ ने 41 के बहुमत से **अरनित दास बनाम बिहार राज्य** में दिए अपने निर्णय को 2-2-2005 को उलट दिया तथा विनिश्चित किया कि यदि अपराध करने के दिन व्यक्ति की आयु 18 वर्ष से कम है, तो किशोर न्याय अधिनियम, 2000 के अन्तर्गत उसे किशोर माना जायेगा न कि किशोर कल्याण बोर्ड के समक्ष जाँच या विचारण हेतु प्रथम पेशी के दिन से अर्थात् यदि अपराध कारित करने की तिथि को बालक ६ बालिका की आयु 18 वर्ष से कम हो तो कार्यवाही किशोर-न्याय (बालकों की देखरेख तथा संरक्षण) अधिनियम, 2000 के अन्तर्गत की जाएगी। भले ही प्रथम बार किशोर न्याय बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत किये जाने के दिन उसकी आयु 18 वर्ष से अधिक हो गई हो।

सामान्यतः दण्ड की मात्रा और उसका निर्धारण अपराध की गंभीरता तथा उसके कारण समाज को उत्पन्न होने वाले सभावित संकट पर निर्भर करती हैं। अपराधी की आपराधिक प्रवृत्ति के अनुसार उसे कम या अधिक दण्ड दिया जाता है। अपराधी व्यक्ति अपराधकृत्य के परिणामस्वरूप होने वाले सुख या फायदे का मूल्य दण्ड के खतरे के रूप में चुकाने के लिए तैयार रहता है। यदि दण्ड का दुःख अपराध से होने वाले सुख की तुलना में अधिक कष्टदायी (महंगा) हो, तो अपराध करने से डरेगा। अपराधी की यही मनोवृत्ति मृत्युदण्ड के प्रति भी लागू होती हैं।

दाण्डिक विधिशास्त्र के निरपेक्ष विश्लेषण से यह पता चलता है कि मृत्युदण्ड केवल हत्या या बलात्कार जैसे गम्भीरतम अपराधों के लिए ही दिया जाना उचित है जिनके कारण समाज के लिए गंभीर संकट उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि दण्ड व्यवस्था में सुधारात्मक तरीकों को प्रधानता दी जाने पर भी बिरले मामलों में मृत्युदण्ड को यथावत बनाए रखना दाण्डिक दृष्टि से भी आवश्यक है ताकि अवांछित तथा समाज के लिए खतरनाक अपराधियों का अस्तित्व समाप्त किया जा सके। भारतीय दण्डनीति में भी मृत्युदण्ड के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया गया है।

अतः बाल अपराधी को मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता है।

प्रश्न10— “बाल न्यायालयों की कार्यप्रणाली संतोषप्रद नहीं हैं।” इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर— भारत में किशोर न्याय व्यवस्था— भारत में भी किशोर के सन्दर्भ में अपचारी का वही अर्थ है जो वयस्क अपराधी के मामले में ‘अपराध’ का होता है। अतः ‘अपचार’ और ‘अपराध’ की विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में भेद केवल यह है कि वयस्क द्वारा किये गये अपराध का विचारण (trial) सामान्य दण्ड-न्यायालय में होता है जबकि किशोर द्वारा किये गये अपचार का निपटारा (कपेचर्वेस) किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile Justice Board) द्वारा अनौपचारिक प्रक्रिया अपनाते हुए किया जाता है।

किशोर-अपचारियों के विचारण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान उपबंधित हैं जिनका उल्लेख दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 360 एवं 27 में किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय दण्ड संहिता की धारा 82 एवं 83 में भी बालकों के आपराधिक दायित्व के विषय में उपबंध है। इन प्रावधानों से स्पष्ट है कि दण्ड विधि के अन्तर्गत भी बालकों के प्रति उदार नीति अपनाई गई है। इनके अतिरिक्त किशोर अपचारियों के प्रति उपचारात्मक पद्धति अपनाई जाने के लिए अन्य सांविधिक कानून नं। अधिनियमित किये गये हैं।

किशोर तथा युवा अपचारियों के दाण्डिक उपचार से सम्बन्धित कानून मुख्यतः दो केन्द्रीय अधिनियमों में समाविष्ट हैं जो (1) किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000 तथा (2) अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 है। परिवीक्षा अधिनियम के अन्तर्गत किशोर अपराधियों को परिवीक्षाधीन रखकर उनमें सुधार का प्रयास किया जाता है। इन दोनों कानूनों में अन्तर्विष्ट मूलभूत सिद्धान्त यह है कि किशोर स्वभावतः ही चंचल और शरारती होते हैं, अतः उनके प्रति सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अपराध करते समय किशोर अपचारी की मनःस्थिति वैसी नहीं होती जैसी कि किसी सामान्य अपराधी की होती है। अतः दोनों को समान रूप से विचारित और दण्डित करना उचित नहीं है।

किशोर न्याय बोर्ड के कार्य-पद्धति की समीक्षा—अपचारी किशोर का विचारण विशेष रूप से गठित किशोर न्याय बोर्ड में होता है ताकि किशोर को सामान्य आपराधिक विधि की कठोरता से बचाये रखा जा सके और साथ ही इसके लिए अपनाई जाने वाली अनौपचारिक प्रक्रिया को अनुचित भेदभाव के आधार पर सविधान के अनुच्छेद 16 तथा 21 के अधीन चुनौती न दी जा सके।

विधि विरोधी किशोरों के विचारण के लिए विशेष अनौपचारिक प्रक्रिया अपनाई जाना उचित ही है क्योंकि यदि उन्हें गिरफ्तारी, अभियोजन, बचाव, सिद्धि का भार, दोष सिद्धि आदि की न्यायिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता, तो किशोर न्याय का उद्देश्य ही विफल हो जाता। दण्ड विधि की सामान्य न्यायिक प्रक्रिया के अधीन अपचारी या विधि विवादित किशोर को सर्वप्रथम पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर हिरासत में लिया गया होता और तत्पश्चात् उसे विचारण के लिए न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाता और दोष सिद्धि के बाद कारागार में भेज दिया जाता। इस प्रकार अपचारी किशोर का पुलिस और कारागार के वयस्क अपराधियों से सम्पर्क के कारण उसके खतरनाक अभ्यस्त अपराधी बन जाने की सम्भावनाएँ अधिक होती। इसके अतिरिक्त, एक बार कारागृह के दूषित वातावरण में बुरे अपराधियों की संगति में रह चुकने के कारण बाद में उसे सुधार गृह में रखने से उसके सुधार की आशा रखना व्यर्थ था। कुछ दण्डशास्त्रियों का मानना है कि वर्तमान किशोर न्याय पद्धति भी सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि अभी भी अपचारी किशोर के विचारण में पुलिस और

न्यायिक मजिस्ट्रेट की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। उनके अनुसार किशोरों का विचारण प्रारम्भ से अन्त तक पूर्णतः किन्हीं सिविल या सुधारात्मक संस्थाओं या स्वयंसेवकों द्वारा ही संचालित किया जाना चाहिये। परन्तु किशोर अपचारिता की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए इस विचार से सहमत होना व्यवहारिक दृष्टि से उचित नहीं है और न्यायिक दृष्टि से भी यह अनुचित होगा।

भारत के उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) ने रोहतास बनाम हरियाणा राज्य के वाद में यह अभिनिर्धारित किया कि मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास से दण्डनीय किसी अपराध के मामले में भी किशोर का विचारण किशोर न्यायालय में ही होना चाहिए न कि सत्र न्यायालय में। इस मामले में यह दलील पेश की गई कि बाल-अधिनियम, 1960 तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के प्रावधानों के अनुसार यदि किसी किशोर ने कोई ऐसा अपराध किया हो, जो मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास से दण्डनीय हो, तो उसका परीक्षण सत्र न्यायालय द्वारा ही किया जाना चाहिये। प्रस्तुत प्रकरण में किशोर के विरुद्ध आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का आरोप था। उच्चतम न्यायालय ने किशोर अपराधी के प्रति उदारता बरतते हुए निर्णय दिया कि किशोर का विचारण हरियाणा बाल-अधिनियम, 1974 के अन्तर्गत ही किया जाए।

उच्चतम न्यायालय द्वारा उपर्युक्त विनिश्चय की पुष्टि पुनः शीला बारसे बनाम भारत संघ के वाद में भी की गई। न्यायालय ने स्पष्ट निर्देश दिये कि तत्सम्बन्ध में सांविधिक प्रावधानों के होते हुए भी, किशोर अपराधियों को जेल में नहीं रखा जाना चाहिये तथा किशोर न्याय का लाभ देकर उन्हें किशोर-गृह या अन्य किसी सुधार संस्था में रखा जाए।

प्रश्न 11— मातृत्व लाभ से क्या समझते हैं? मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 के अन्तर्गत मातृत्व लाभ के सम्बन्ध में कौन-कौन से अधिकार प्रदान किये गये हैं?

उत्तर— मातृत्व लाभ— मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 महिला कर्मकारों को सामाजिक न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से बनाया गया है। इस अधिनियम के उपबन्धों का निर्वचन करने में न्यायालय को उदारवादी नियम का पालन करना चाहिये जिससे कि न केवल महिला कर्मकारों का भरण-पोषण हो सके, बल्कि वे अपनी क्षीण शक्ति को पुनः प्राप्त कर सकें, शिशुओं का पालन-पोषण हो सकें तथा अपनी पूर्व कार्य क्षमता को बनाये भी रख सकें।

कतिपय स्थापनाओं में निषेधित समय के लिए स्त्री का नियोजक या उससे काम का लिया जाना— इस धारा द्वारा नियोजक को इस बात के लिए प्रतिधित किया गया है कि वह अपनी जानकारी में किसी स्त्री को किसी स्थापना में उसकी सूक्ति के दिन या भ्रूणपात के दिन से लेकर आगे के छ सप्ताह की अवधि तक नियोजित न करें।

धारा 6 के उपबन्ध के अनुसार धारा 6 के उपबन्धों को बिना प्रतिकूल प्रभावित किये हुये किसी स्त्री को चाहे वह स्वयं आग्रह करे, उसकी प्रसूति के प्रत्याशित दिन और उक्त छः सप्ताह के आरम्भ होने के दिन के एक मास पूर्व से निम्नलिखित कार्यों में नहीं लगाया जायेगा और साथ ही वह धारा 6 के अन्तर्गत ऐसे छः सप्ताह की अवधि में भी इन कार्यों पर नहीं लगायी जायेगी जिसमें कि गर्भिणी स्त्री के अनुपस्थिति को छुट्टी का लाभ दिया गया है—

- (1) कोई ऐसा कार्य जो कि दुष्कर हो (work of arduous nature),
- (2) कोई ऐसा कार्य जिसमें कई घण्टों तक खड़े रहने की आवश्यकता हो.
- (3) कोई ऐसा कार्य जो किसी भी प्रकार से उसकी गर्भावस्था को प्रभावित करता हो. या उसके भ्रूण के सामान्य विकास को रोकता हो, या जिसके भ्रूणपात होने की सम्भावना हो, या उसके स्वास्थ्य को अन्यथा रूप में कुप्रभावित करता हो।

मातृत्व लाभ में भुगतान— (1) प्रत्येक स्त्री को मातृत्व-लाभ का हक प्राप्त होगा। उसका नियोजन उसे यह लाभ देने के लिए बाध्य होगा। यह लाभ किसी स्त्री-कर्मकार को प्रसूति होने के तुरन्त छः सप्ताह की अवधि तक उसकी औसत मजदूरी की राशि के बराबर दिया जायेगा।

जिस अवधि में कि उसने मातृत्व-लाभ के लिए अपने आपको अनुपस्थित रखा है या यह औसत एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से गिना जायेगा, किन्तु इन दोनों में जो भी धनराशि अधिक होगी वह उसे देय मानी जायेगी। अतः मातृत्व लाभ के दावे के लिए 160 दिनों की अर्हता अवधि, एक पूर्ववर्ती शर्त के रूप में आवश्यक नहीं होगी।

कुछ दशाओं में मातृत्व लाभ संदाय का चालू रखा जाना— प्रत्येक स्त्री, जो इस अधिनियम के अन्तर्गत मातृत्व लाभ की अधिकारिणी है, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के ऐसे कारखानों या अन्य संस्थापनों, जिसमें वह नियोजित है, में प्रवर्तन के बावजूद भी, ऐसे लाभ के पाने की अधिकारिणी बनी रहेगी। जब तक कि वह धारा 50 के अन्तर्गत मातृत्व लाभ पाने के लिए योग्य नहीं हो जाती है।

राम बहादुर ठाकुर बनाम चीफ़ इन्स्पेक्टर आफ़ प्लान्टेशन के वाद में एक स्त्री कर्मकार के वर्ष में 157 पूरे दिन तथा 4 आधे दिन काम करी थी तो न्यायालयों ने स्पष्ट किया कि इसकी गणना 161 दिन होगी। अर्थात् 4 आधे दिन को 4 पूरे दिन के बराबर जोड़ा जायेगा।

कतिपय दशाओं में मातृत्व लाभ का संदाय ऐसी स्त्री—

(i) जो किसी कारखाना या अन्य संस्थापना में, जिसमें कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के उपबन्ध लागू होते हैं. नियोजित है.

(ii) जिसकी एक माह की मजदूरी (अतिकाल काम के लिए पारिश्रमिक को छोड़कर) इस अधिनियम की धारा 2 के खण्ड 9 के उपखण्ड (ख) में निर्दिष्ट राशि से अधिक हो जाती है, और

(iii) जो धारा 5 की उपधारा 2 में निवि शर्तों को पूरा करती है.

इस अधिनियम के अन्तर्गत मातृत्व लाभ पाने की अधिकारिणी होगी।

प्रसूति प्रसुविधा का दावा और उसकी अदायगी की सूचना— कोई स्त्री, जो कि एक संस्था में नियोजित है और इस अधिनियम के अधीन मातृत्व लाभ प्राप्त करने की हकदार है, अपने नियोजक को विहित प्रारूप में नोटिस दे सकती है।

नोटिस में यह उल्लिखित होना चाहिए कि इस अधिनियम के अधीन देय मातृत्व लाभ की धनराशि या अन्य कोई देय धनराशि उसे प्रदान की जाये या उस व्यक्ति को प्रदान की जाये जिसे कि वह नोटिस में नामांकित करती है।

एक गर्भिणी स्त्री के मामले में हैं, नोटिस में उस तिथि का उल्लेख किया जायेगा जिस तिथि से मातृत्व-लाभ के लिए के स्त्री कर्मकार अपने काम से अनुपस्थित रहेगी।

स्त्री की मृत्यु की दशा में मातृत्व लाभ का भुगतान— यदि मातृत्व-लाभ या इस अधिनियम के अन्तर्गत देय किसी अन्य धनराशि के लिये हकदार स्त्री इस प्रकार के मातृत्व लाभ या धनराशि प्राप्त करने के पहले ही मर जाती हैं, अथवा जहाँ कि नियोजक इस अधिनियम की धारा 5 (3) के परन्तुक के अधीन मातृत्व-लाभ का भुगतान करने के लिए दायित्वाधीन है, वहीं वह नियोजन ऐसे लाभ या धनराशि की अदायगी उस स्त्री द्वारा धारा 6 के अन्तर्गत दी गयी विनिर्दिष्ट व्यक्ति को करेगा। परन्तु स्त्री यदि इस प्रकार के किसी व्यक्ति को नामांकित नहीं करती है तो मातृत्व लाभ या अन्य किसी प्रकार का लाभ उस सभी के विधिक प्रतिनिधि को दी जायेगी।

स्त्री के अनुपस्थिति या गर्भावस्था की दशा में बर्खास्त किया जाना— यदि कोई स्त्री इस अधिनियम के उपबन्धों के अध्याधीन काम से अनुपस्थित हो जाती है तो उस अवधि के नियोजक के लिए यह विधि विरुद्ध होगा कि उस अनुपस्थिति के कारण उस स्त्री को क.प से बर्खास्त कर दे अथवा उसे कार्य के पृथक करने या पदच्युत किये जाने की नोटिस उ निधि को दे जब कि उस नोटिस की अवधि उस अनुपस्थिति की अवधि में ही बीत जाय या यह कि उस नोटिस का उसकी कार्य सेवा की दशाओं पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़े।

मजदूरी में कटौती— किसी भी स्त्री के सामान्य एवं दैनिक मजदूरी से जो मातृत्व लाभ की हकदार है केवल निम्नलिखित कारणों से नहीं की जा सकती हैं—

(क) इस अधिनियम की धारा 4 (3) के अन्तर्गत दिये गये कार्यों की प्रकृति के कारण जो उसे सौंपा गया है,

(ख) धारा 11 में दिये गये विश्राम की अवधि के कारण।

निरीक्षकों की नियुक्ति— समुचित सरकार सरकारी गजट में प्रकाशन के माध्यम से ऐसे निरीक्षकों की नियुक्ति कर सकेगी जिन्हें वह उचित समझे तथा उनके कार्य क्षेत्र की सीमाओं का भी निर्धारण कर सकती है जिसके अन्तर्गत इस अधिनियम के अन्तर्गत उन्हें कार्य करना है।

निरीक्षक की शक्तियाँ एवं मातृत्व लाभ— धारा 16 के अन्तर्गत प्रावधानित है कि निरीक्षक लोक सेवक होंगे। धारा 17 के अन्तर्गत निरीक्षक की शक्तियों का वर्णन है। नियोजित स्त्रियों को मातृत्व लाभ के अपवर्तन की सुविधा भी दी गयी है।

सद्भाव में किये गये कार्यवाहियों की छूट— धारा 24 के अनुसार किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध कोई वाद अभियोजन या विधिक कार्यवाही उसके किसी भी कार्य के प्रति संस्थित नहीं किया जायेगा जिसे वह सद्भावना के अन्तर्गत इस अधिनियम के प्रावधानों अथवा उसके अन्तर्गत बनाये किसी नियम के अग्रसरण में किया हो।

केन्द्र सरकार का निदेश जारी करने का अधिकार— धारा 25 के अनुसार केन्द्र सरकार राज्य सरकार को इस अधिनियम के प्रावधानों को निष्पादित करने के लिए जैसा उचित समझे निर्देश जारी कर सकेगी तथा सरकार को उन अनुदेशों का पालन करना होगा।

उपर्युक्त प्रावधान से यह बात स्पष्ट है कि प्रसूति प्रसुविधा से सम्बन्धित व्यापक तथा ठोस नियम बनाये गये हैं यदि इनका उचित क्रियान्वयन हुआ तो नियोजित स्त्रियों को काफी लाभ पहुँच सकता है।

प्रश्न 12— हिन्दू-दत्तक ग्रहण तथा पोषण अधिनियम 1956 के अन्तर्गत हिन्दू-दत्तक ग्रहण की वैध अर्हताएँ क्या हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— दत्तक ग्रहण का अर्थ— दत्तक ग्रहण का अर्थ होता है किसी दूसरे के बच्चे को अपना बच्चा बना लेना अर्थात् निःसन्तान व्यक्ति का सन्तान वाला बन जाना। मनु के अनुसार “वह पुत्र दत्तक पुत्र कहा जाता है जिसे माता-पिता द्वारा किसी पुत्रहीन ऐसे व्यक्ति को दे दिया गया हो जो उसी जाति का होने के साथ जल छिड़क कर स्नेह के साथ दिया गया हो।”

दत्तक ग्रहण कौन कर सकता है—

प्राचीन विधि— निःसन्तान स्वस्थचित वयस्क व्यक्ति को केवल पुत्र दत्तक (गोद) ले सकता था। पत्नी को पति के जीवन काल में गोद लेने का अधिकार नहीं था। पत्नी पति की अनुमति से और पति की ओर से गोद ले सकती थी। स्त्रियों को स्वतन्त्र रूप से दत्तक ग्रहण का कोई अधिकार नहीं था जैसा कि वशिष्ठ का कथन है कि श्कोई भी स्त्री किसी पुत्र को पति की सहमति के बिना न तो दत्तक (गोद) ले सकती थी और न ही दे सकती थी।

वर्तमान विधि हिन्दू दत्तक ग्रहण तथा भरण पोषण अधिनियम, 1956 की धारा 6 ऐसी 4 अनिवार्य शर्तों का उल्लेख करती हैं जिनका पालन न करने पर दत्तक ग्रहण शून्य होता है ये निम्नलिखित है —

(i) **दत्तक लेने की समर्थता (धारा 7 एवं 8)—** जो व्यक्ति दत्तक ग्रहण कर रहा है उसके लिए दत्तक ग्रहण करने की विधिक समर्थता एवं अधिकार होना चाहिए।

(ii) **दत्तक लिए जाने वाले की समर्थता (धारा 10)—** जो व्यक्ति अपनी संतान दत्तक दे रहा हो उसे दत्तक देने में समर्थ होना चाहिए।

(iii) **दत्तक देने वाले की समर्थता (धारा 9)—** जिसे दत्तक में लिया जा रहा है उसे दत्तक लेने योग्य होना चाहिए।

(iv) **धारा 11 में वर्णित शर्तों के अनुरूप होना (धारा 11)—** दत्तक ग्रहण में धारा 11 में वर्णित शर्तों का पूरा किया जाना आवश्यक है।

उच्चतम न्यायालय ने पेन्टाकोटा सत्यनारायण एवं अन्य बनाम पेन्टाकोटा सीधारत्नम के मामले में ऐसे दत्तक को सही एवं विधिपूर्ण मानने से इन्कार कर दिया जहाँ न तो वाद पत्र में दत्तक की तिथि का उल्लेख था और न ही दत्तक—विलेख निष्पादित किया गया।

दत्तक ग्रहण करने वाले की सामर्थ्य (धारा 7 एवं 8)— जो स्त्री या पुरुष दत्तक ग्रहण कर रहे हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि दत्तक लेने की वैध सामर्थ्य रखता हो और उसे दत्तक लेने का अधिकार हो। इसके लिए उसे वयस्क तथा स्वस्थचित होना चाहिए।

पत्नी की सहमति — पत्नी यदि जीवित हो तो पति के लिए दत्तक ग्रहण करने के लिए पत्नी की सहमति अनिवार्य हैं। परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में कोई व्यक्ति बिना पत्नी की सहमति के ही दत्तक ग्रहण कर सकता है—

- (i) पत्नी के संसार से अन्तिम रूप से विरक्त होने पर या
- (ii) पत्नी के हिन्दू न रहने पर, या
- (iii) सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा पत्नी को विकृत—चित्त घोषित करने पर।

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त दत्तक ग्रहण के लिए पत्नी की सहमति अनिवार्य है, जैसा कि **मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने भोलू राम बनाम रामलाल के मामले में** अभिनिर्धारित किया है कि दत्तक ग्रहण में पत्नी की सहमति अनिवार्य हैं भले ही पत्नी कहीं और रह रही हो या कहीं चली गई हो या घोर अनैतिक जीवन व्यतीत कर रही हों। **प्रफुल्ल कुमार बनाम शशि बेवा के मामले में** अभिनिर्धारित हुआ है कि वहाँ पत्नी की सहमति की उपधारणा कर ली जाएगी जहाँ पत्नी ने पति के साथ दत्तक ग्रहण अनुष्ठान में भाग लिया हो।

स्त्रियों के दत्तक ग्रहण की सामर्थ्य (धारा 8)— अधिनियम लागू होने के पूर्व विधवा तभी दत्तक ग्रहण कर सकती थी जब मृतक पति ने दत्तक ग्रहण के लिए प्राधिकृत किया हो। वर्तमान अधिनियम विधवा तथा अविवाहिता स्त्री को दत्तक ग्रहण का अधिकार देता है। विधवा स्त्री बिना पति के प्राधिकार के ही दत्तक ग्रहण कर सकती हैं। परन्तु विवाहिता स्त्री को सामान्य परिस्थितियों में दत्तक ग्रहण का अधिकार नहीं है। धारा 8 निम्नलिखित परिस्थितियों में किसी स्त्री को दत्तक ग्रहण का अधिकार देती है, जब वह —

- (1) वयस्क हो,
- (2) स्वस्थ चित्त हो,
- (3) अविवाहिता हो, या यदि विवाहित हो तो पति —
 - (i) मर गया हो, या
 - (ii) हिन्दू न रह गया हो,
 - (iii) तलाक हो चुका हो, या
 - (iv) अन्तिम रूप से संसार परित्याग कर चुका हो या संन्यासी हो चुका हो, या
 - (v) किसी सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा विकृत चित्त घोषित हो गया हो।

दत्तक ग्रहण में सन्तान देने की सामर्थ्य (धारा 9)— प्राचीन विधि में दत्तक ग्रहण में पुत्र देने का सम्पूर्ण अधिकार पति का होता था। साधारणतया पति ऐसा पत्नी की स्वीकृति से करता था परन्तु पति के लिए पत्नी की स्वीकृति लेना अनिवार्य नहीं था।

वर्तमान विधि— धारा 9 उन व्यक्तियों के बारे में उल्लेख करती है जो बच्चे को दत्तक ग्रहण में देने के लिए सक्षम हैं—

- (i) केवल माता, पिता और संरक्षक,
- (ii) पिता के जीवित होने पर पिता को माता की सहमति से देने का अधिकार है,
- (iii) पिता के जीवित न होने पर माता को देने का अधिकार,
- (iv) न्यायालय की पूर्ण अनुमति से संरक्षक को अधिकार, जबकि माता—पिता दोनों ही मर चुके हो।

दत्तक ग्रहण में कौन लिया जा सकता है (धारा 10) वर्तमान विधि (धारा 10)— अधिनियम की धारा 10 दत्तक ग्रहण में लिए जाने वाले व्यक्ति की आवश्यक योग्यताओं के बारे में प्रावधान करती है।

धारा 10 के अनुसार कि वह व्यक्ति दत्तक ग्रहण में लिए जाने योग्य होगा जो—

- (i) हिन्दू (पुत्र या पुत्री) हो,
- (ii) पूर्व दत्तक ग्रहीत न रहा हो अर्थात् पहले कभी दत्तक न लिया गया हो,
- (iii) अविवाहित या अविवाहिता हो,
- (iv) 15 वर्ष से कम हो।

वैध दत्तक ग्रहण की अन्य शर्तें (धारा 11)— वैध दत्तक ग्रहण की निम्नलिखित आवश्यक शर्तें हैं —

- (i) जब दत्तक ग्रहण किसी पुत्र का हो तो दत्तकग्रहीता पिता का कोई हिन्दू पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र (चाहे धर्मज रक्त नातेदारी से हो या दत्तक से) आदि जिन्दा नहीं होना चाहिए, (धारा 11 (1)),
- (ii) जब दत्तक ग्रहण पुत्री हो तो दत्तक ग्रहीता पिता की कोई हिन्दू पुत्री, पौत्री या प्रपौत्री (चाहे धर्मज रक्त नातेदारी से हो या दत्तक से) जिन्दा नहीं होनी चाहिए परन्तु यदि पत्नी गर्भवती हो तो दत्तक ग्रहण किया जा सकता है,
- (iii) जब दत्तक ग्रहण पुरुष द्वारा लड़की का हो तो दत्तक पिता और दत्तक पुत्री में कम से कम 21 वर्ष का अन्तर होना चाहिए,
- (iv) जब दत्तक ग्रहण किसी स्त्री द्वारा लड़की का हो तो दत्तक ग्रहीता स्त्री और लड़की की आयु में 21 वर्ष का अन्तर होना चाहिए,

(v) नैसर्गिक पिता द्वारा बालक अथवा बालिका का दत्तकग्रहण में दिया गया हो और दत्तक पिता द्वारा स्वीकार किया गया हो,

(vi) एक ही बालक 2 या 2 से अधिक व्यक्तियों द्वारा एक साथ नहीं लिया जा सकता।

हनमन्त लक्ष्मण सांलुके (मृत) विधि प्रतिनिधि द्वारा अ. श्री रंग नारायण कांसे के मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि धारा 11 (iv) में वर्णित यह उपबन्ध कि दत्तक ग्रहण के समय दत्तक ग्रहीता माँ और दत्तक लिए जाने वाले पुत्र में कम से कम 21 वर्ष का अन्तर होना चाहिए, यह उपबन्ध आज्ञात्मक प्रकृति के हैं। इस मामले में दत्तक लेने वाली माँ की आयु और जिस लड़के को दत्तक लिया जा रहा था, उसकी आयु में 21 वर्ष से कम आयु का अन्तर था। न्यायालय ने इस भंग को दत्तक ग्रहण के लिए घातक माना।

प्रश्न 13—भारत में बाल यौन अपराधों के बढ़ने के प्रमुख कारणों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— भारत में बाल यौन अपराधों के बढ़ने के प्रमुख कारण— वर्तमान समय में बाल यौन अपराध ने एक विश्व व्यापी समस्या का रूप धारण कर लिया है। बाल यौन अपराध के निवारण हेतु विभिन्न उपचारात्मक प्रयत्नों के बावजूद बालकों में उद्वेगिता, हिंसा तथा कानून का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती हुई प्रतीत हो रही है। बाल यौन अपराधों के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. पारिवारिक विघटन— औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के कारण संयुक्त परिवारों का तेजी से विघटन हुआ है तथा उद्योग, नौकरी या धन्धे के निमित्त परिवार के सदस्य इधर-उधर बिखर गए हैं। बच्चों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के जीवन की आपा-धापी में प्रत्येक व्यक्ति इतना अधिक व्यस्त है कि उसे अपने बच्चों पर उचित ध्यान देने के लिए भी समय नहीं मिल पाता है। फलतः बच्चे स्वयं को उपेक्षित अनुभव करते हैं तथा माता-पिता के वांछित स्नेह और संरक्षण के अभाव में अपचारिता की ओर आकृष्ट होने लगते हैं।

2. वैवाहिक सम्बन्धों में शिथिलता— वर्तमान समय में तलाक और वैवाहिक-झगड़ों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके कारण पारिवारिक समेकता (family solidarity) छिन्न-भिन्न सी हो गई है। महिलाओं में पुरुषों के साथ समानता की भावना प्रबल हो जाने के कारण परिवार पर से कर्ता पुरुष का नियंत्रण समाप्तप्राय होता जा रहा है। माता-पिता का अपने बच्चों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार का उनकी मानसिकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वे स्वयं को उपेक्षित समझने लगते हैं। ये उपेक्षित बालक स्वयं पर नियन्त्रण न रख सकने के कारण प्रायः भटक जाते हैं जो अपचारिता के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर देता है। कभी-कभी पति-पत्नी में आपसी कलह, दुर्व्यवहार, मार-पीट, गाली गलौज आदि को देखकर अबोध बालक असमंजस में पड़ जाते हैं, और यह नहीं समझ पाते कि उनके माता-पिता में से वे किसका साथ दें। यह स्थिति भी अपचारिता के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर देती है।

3. आधुनिक फैशन— आजकल युवाओं में फैशन के पीछे भागने की होड़ सी लगी हुई है। भारतीय युवा-वर्ग पर पाश्चात्य सभ्यता का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि वे अपनी मूल भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को भुलाते जा रहे हैं। आज के युवाओं का खाने-पीने, उठने-बैठने, पहनने ओढ़ने तथा बनने-संवरने आदि का ढंग इतना अधिक बदल चुका है कि सांस्कृतिक टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई है और बच्चों को यह तय कर पाना कठिन हो गया है कि कौन-सा आचरण उचित है और कौन-सा अनुचित। चल-चित्र, दूरदर्शन, रेडियो, डिस्क, कैबरे आदि ने भारतीय सभ्यता को पूर्णतः विकृत कर दिया है और बालकों तथा किशोरों की प्रवृत्ति हिंसा, मारकाट, नशाखोरी, लैंगिकता आदि की ओर बढ़ती जा रही है। आजकल की अधिकांश फिल्में अपराध-प्रधान या वासनाश प्रधान होने के कारण वे बच्चों की मानसिकता को कलुषित करती हैं जो आगे चल कर उन्हें अपचारी बनाने के लिए कारणीभूत होती है।

4. शारीरिक परिवर्तन— किशोरों में आपचारिक आचरण का एक अन्य कारण समय से पहले उनकी शारीरिक अपरिपक्वता या बुद्धि का मन्द गति से विकास भी हो सकता है। आजकल लड़कियों में कौमार्यावस्था (Puberty) का आगमन पहले से औसत 3 या 4 वर्ष पूर्व हो जाता है। लगभग बारह या तेरह वर्ष की आयु से ही बालिकाओं में कौमार्यागमन के जैविक लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं जबकि मानसिक दृष्टि से उनमें इन परिवर्तनों को ठीक से समझने की क्षमता नहीं होती है। फलतः वे बिना सोचे समझे क्षणिक सुख के लिए लैंगिकता की शिकार हो जाती हैं जिनके गम्भीर परिणामों के बारे में उन्हें कल्पना भी नहीं रहती। अतः यह आवश्यक है कि समय रहते ही माता-पिता विशेषकर माताएँ, अपनी पुत्रियों को अवैध लैंगिकता के दुष्परिणामों से भली-भाँति अवगत करा दें ताकि वे सचेत रहे।

5. मीडिया— कुछ अपराधशास्त्रियों ने प्रसार माध्यम, सिनेमा, दूरदर्शन, आदि को भी बार-बार अपचारिता का कारण मानते हुए कहा है कि किशोर एवं बालकों के कोमल मन तथा मस्तिष्क पर इन माध्यमों द्वारा दर्शाये जाने वाले छाया चित्रों, अश्लील या वीभत्स दृश्यों का कुप्रभाव पड़ता है और वे उन्हें अपने वास्तविक जीवन में अनुसरण करने की ओर प्रवृत्त होते हैं और उन्हें अपराधी बना देते हैं। इसी प्रकार अश्लील साहित्य का भी उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः इस प्रकार की अवांछित फिल्मों, सीरियलों, तथा पुस्तकों पर प्रतिबंधात्मक कार्यवाही की जानी चाहिए ताकि युवा-पीढ़ी को इनके दुष्परिणामों से बचाया जा सके। इन्टरनेट केफे अस्तित्व में आने के कारण इस समस्या ने और भी अधिक गंभीर रूप धारण कर लिया है।

6. अश्लील साहित्य— आजकल समाज में अश्लील पत्रिकाओं के माध्यम से बालकों के कोमल मस्तिष्क पर इसका दुष्प्रभाव पड़ता है। इसके कारण वे बौन अपराधों के प्रति आकर्षित होते हैं। ये क्षणिक सुख में अपने बहुमूल्य जीवन को संकट में डाल देते हैं।

7. निर्धनता— निर्धनता अपचारिता का एक संभाव्य कारण है। माता पिता या परिवार-जनों की गरीबी तथा निर्धनता के कारण बच्चे अपनी पेट की भूख शान्त करने के लिए अवैध गतिविधियों की ओर आकृष्ट होते हैं जो उन्हें अपचारी बना देती है। कभी-कभी माता-पिता स्वयं ही बच्चों को स्वार्थवश अपराध करने का परोक्षतः प्रोत्साहन देते हैं। स्वाभाविकतः

ही ये बच्चें माता-पिता की शह होने के कारण यह नहीं समझ पाते कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह अपचार या अवैध कृत्य हैं, जिसे समाज अच्छा नहीं समझता। इस प्रकार अनजाने में ही उनमें अपचारिता की आदत पड़ जाती है।

8. अशिक्षा, अज्ञान आदि— उपर्युक्त कारणों के अलावा, अशिक्षा, अज्ञान तथा बाल-श्रम (बीपसक संज्ञनत) आदि के कारण भी किशोर वयस्कों में अपचारिता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। होटलों, दुकानों या कारखानों में काम करने वाले बाल श्रमिक अपनी अल्पायु तथा अज्ञानता के कारण यह नहीं समझ पाते कि वे अपनी कमाई का पैसा कहाँ खर्च करें। अतः वे इसका दुरुपयोग करते हैं और बुरी आदतों में पड़कर अपचारी बन जाते हैं। यद्यपि बाल-श्रम को विधि द्वारा निषिद्ध माना गया है लेकिन व्यावहारिक रूप से यह कुप्रथा आज भी विद्यमान है।

प्रश्न 14—क्या एक अवयस्क को साझेदारी में प्रवेश दिया जा सकता है? यदि हाँ, तो उसके अवयस्कता के समय एवं वयस्क होने पर क्या अधिकार एवं दायित्व होंगे? विवेचना कीजिए।

उत्तर—भागीदारी के लाभों में अवयस्क को सम्मिलित किया जाना धारा 30(1), (Minors Admitted to the Benefits of Partnership) अवयस्क फर्म में भागीदार तो नहीं हो सकता परन्तु उसे भागीदारी के लाभों में सम्मिलित किया जा सकता है यदि फर्म के सभी भागीदार सम्मति प्रदान करते हैं। भागीदार भागीदारी अनुबन्ध में या तो ऐसा करार कर सकते हैं कि किसी भागीदार की मृत्यु पर भागीदारी समाप्त नहीं होगी वरन् मृतक भागीदार के अवयस्क उत्तराधिकारी को भागीदारी के लाभों में सम्मिलित कर लिया जाएगा या भागीदार की मृत्यु के बाद सभी भागीदार ऐसी सहमति प्रदान कर सकते हैं। परन्तु किसी भी स्थिति में भागीदार ऐसा अनुबन्ध नहीं कर सकते जो अवयस्क को भागीदार बनाता हो। इन्कम टैक्स कमिश्नर अ. शाह के वाद में — एक फर्म के भागीदारी विलेख में भागीदारों ने आपस में अनुबन्ध किया था कि किसी भागीदार की मृत्यु होने पर यदि मृतक भागीदार का उत्तराधिकारी अवयस्क भी है तो भी मृतक के स्थान पर फर्म का भागीदार हो जाएगा। उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि कोई भागीदारी विलेख उस सीमा तक शून्य (ट्वपक) होता है। जिस सीमा तक अवयस्क को पूर्ण रूपेण भागीदार बनाने का प्रयास करता है। धर्मवीर अ. जगन्नाथ पंजाब के मामले में अभिनिर्धारित किया गया है कि भागीदारी करार में अवयस्क को भागीदार बनाए जाने के बावजूद अवयस्क भागीदार की हैसियत नहीं पा जाता। उच्चतम न्यायालय ने कमिश्नर आफ इन्कमटैक्स बनाम द्वारिका दास खेतान एण्ड कं. के वाद में अभिनिर्णीत किया कि अवयस्क किसी फर्म में भागीदार नहीं हो सकता।

लाभ के लिए सम्मिलित अवयस्क के अधिकार एवं दायित्व— जब कोई अवयस्क फर्म के लाभों के लिए फर्म में सम्मिलित होता है तो उसके निम्नलिखित अधिकार व दायित्व उत्पन्न होते हैं—

(1) लाभ तथा लेखा निरीक्षण का अधिकार और वाद लाने पर रोक धारा 30 (2) व 30 (4),— अवयस्क को फर्म की सम्पत्ति और लाभों में वह हिस्सा प्राप्त करने का बेकार होता है जैसा भागीदारों ने आपस में करार किया हो। इसके अतिरिक्त वह फर्म का लेखा देख सकता है, निरीक्षण कर सकता है और उसकी नकल (प्रतिलिपि) प्राप्त कर सकता है। परन्तु अवयस्क फर्म की सम्पत्ति या लाभों में के अपने हिस्से के लेखे के लिए या संदाय के लिए वाद नहीं ला सकता यह रोक तब लागू रहती है जब तक वह फर्म में बना रहता है अर्थात् वह फर्म से सम्बन्ध विच्छेद कर लाभ और लेखे के लिए वाद ला सकता है। अवयस्क फर्म के लेखाओं का निरीक्षण तो कर सकता है परन्तु गोपनीय खातों की जांच नहीं कर सकता।

(2) ऋण एवं दायित्वों के लिए अवयस्क का व्यक्तिगत रूप से दायी न होना धारा 30 (3),— फर्म के ऋणों एवं दायित्वों के लिए अवयस्क का कोई वैयक्तिक दायित्व नहीं होता है केवल उसका हिस्सा फर्म के ऋण के लिए दायी होता है। उदाहरणार्थ किसी फर्म के एक भागीदार पर 10,000 रुपये के ऋण का दायित्व आता है इतना ही दायित्व अवयस्क पर भी है परन्तु फर्म में अवयस्क के हिस्से की सम्पत्ति और लाभ का मूल्य 5,000 रुपये हैं तो अवयस्क की जो सम्पत्ति 5,000 रुपये की फर्म में है उसे फर्म के ऋणों के लिए ले लिया जाएगा परन्तु जो 5,000 रुपये अवयस्क पर बकाया रह जाता है उसके लिए अवयस्क दायी नहीं होगा।

(3) चुनाव का अधिकार धारा 30 (5),— अवयस्क जब वयस्कता प्राप्त कर लेता है तो वयस्कता प्राप्त होने के 6 माह के अन्दर यह चुनाव करने का अधिकार होता है कि वह फर्म में भागीदार बनेगा या नहीं बनेगा। इन 6 महीनों की गिनती उस दिन से होती है जिस दिन वह वयस्कता प्राप्त कर लेता है अथवा जिस दिन उसे जानकारी मिलती है कि उसे भागीदारी के लाभों के लिए फर्म में सम्मिलित कर लिया गया है जो भी तिथि बाद की हो। उसे कब जानकारी मिली इसे सिद्ध करने का भार अवयस्क पर होता है। 6 माह के अन्दर उसे पब्लिक नोटिस भागीदार होने की देनी होगी कि वह फर्म में भागीदार बनेगा अथवा नहीं। यदि अवयस्क ऐसी नोटिस नहीं देता है तो 6 माह के बाद वह स्वतः फर्म का भागीदार बन जाएगा।

उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत शिव गौड़ा अ. चन्द्रकान्त, नील कान्त सदालगे के वाद में दो भागीदार एक फर्म चला रहे थे। कुछ समय बाद उन्होंने भागीदारी के लाभार्थ एक अवयस्क श्छर को फर्म में सम्मिलित कर लिया। अपीलीर्थी का 1,72, 000 रु० फर्म पर बाकी हो गया। इसी बीच फर्म विघटित हो गयी। फर्म के विघटन के बाद अवयस्क छ वयस्क हो गया परन्तु उसने भागीदार न बनने के विकल्प का प्रयोग नहीं किया। अपीलीर्थी ने छ तथा दोनों भागीदारों को दिवालिया घोषित करने की माँग की। अभिनिर्धारित हुआ कि छ दायी नहीं था क्योंकि छ के वयस्क हो जाने के पहले ही फर्म विघटित हो गई थी और फर्म के विघटन के बाद भागीदार के बनने या न बनने का नोटिस देना आवश्यक नहीं होता।

अधिकार और दायित्व जब अवयस्क फर्म का भागीदार न बनने का निर्णय लेता है धारा 30 (8) (क) (ख) (ग), —

(i) उसके अधिकार और दायित्व उसके द्वारा पब्लिक नोटिस दिए जाने की तारीख तक वे ही बने रहेंगे जो उसके अवयस्क होने के समय थे।

(ii) नोटिस देने की तारीख के बाद उसका हिस्सा फर्म के किसी कार्य के लिए दायी नहीं होगा।

(iii) सम्पत्ति और लाभों में हिस्सा प्राप्त करने के लिए अन्य भागीदारों पर वाद लाने का हकदार होगा।

प्रश्न 15— किशोर न्याय (बालकों की देख-रेख और संरक्षण अधिनियम, 2000) के पारित होने के उद्देश्य तथा विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर— किशोर न्याय (बालकों की देख-रेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000 30.12.2000 को लागू हुआ। इस अधिनियम का उद्देश्य विधि का उल्लंघन करने वाले किशोरों और देख-रेख और संरक्षण के लिए जरूरत मंद बालकों से संबंधित विधि का, उनके विकास की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए उचित देख-रेख, संरक्षण और उपचार का उपबंध करते हुए तथा संबंधित विषयों का न्यायनिर्णयन और व्ययन करने में बालकों के सर्वोत्तम हित में, बालकों के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए तथा इस अधिनियमिति के अधीन स्थापित विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से उनके अंतिम पुनर्वास के लिए समेकन और संशोधन करने के लिए अधिनियम बनाया गया।

पुनः संविधान के अनु० 15 के खंड (क) अनु 39 के खंड (ड) और खंड (च), अनुच्छेद 45 और 47 सहित, उनके उपबंधों में राज्य पर यह सुनिश्चित करने का प्राथमिक दायित्व अधिरोपित किया गया है कि बालकों की सभी आवश्यकताएँ पूरी की जाएँ और उनके बुनियादी मानवीय अधिकारों का पूर्ण रूप से संरक्षण करने का इस अधिनियम का एक प्रमुख उद्देश्य है। साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 20-11-1989 को बालकों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय को अंगीकार किया गया है तथा बालकों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय ने ऐसे कुछ मानदंड विहित किये हैं जिनका बालक के सर्वोत्तम हितों को प्राप्त करने के लिए सभी पक्षकार राज्यों द्वारा पालन किया जाना है और बालकों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय ने न्यायिक कार्यवाहियों का सहारा लिए बिना संभव सीमा तक, पीड़ित बालकों को समाज में पुनः मिलाने के लिए बल दिया है।

किशोर न्याय अधिनियम, 2000 की मुख्य विशेषतायें (Main Features of The Juveniles Justice Act, 2000)—किशोर न्याय अधिनियम 2000 की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं —

1. किशोर न्याय सामान्य विधि (Common Law on Juvenile Justice)—किशोर न्याय अधिनियम, 2000 से पहले किशोर न्याय अधिनियम, 1986 लागू था। वह विधान अपने उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्रभाव में नहीं ला पा रहा था। बाल अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मानकों के लिए कोई विधि नहीं थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए इस अधिनियम को प्रभाव में लाया गया है।

2. अधिनियम का उद्देश्य (Objects of the Act)— अधिनियम की प्रस्तावना में अधिनियम का उद्देश्य बताया गया है। अधिनियम का उद्देश्य:— “देखरेख तथा संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों की उचित देखभाल की व्यवस्था करने, (उनके) संरक्षण और उनके विकास संबंधी आवश्यकताओं के पोषण द्वारा उपचार, और न्याय निर्णयन तथा मामलों के व्ययन में बाल-मैत्री अवधारणा को अंगीकार करते हुए बालकों के सर्वोत्तम हित में इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न संस्थानों के माध्यम से उनके अंतिम पुनर्वास हेतु विधि विरोधी किशोरों, से संबंधित विधि को संशोधित तथा समेकित करना है।”

3. परिभाषायें (Definitions)— अधिनियम की धारा-2 में विभिन्न शब्दावलिओं को परिभाषित किया गया है। अधिनियम में भीख मांगना देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता में बालक सम्प्रेषण गृह, परिवीक्षा अधिकारी आदि शब्दों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। उपरोक्त परिभाषयें अधिनियम के प्रावधानों की व्याख्या करने में पूर्ण सहायक हैं।

4. सक्षम अधिकारी एवं बोर्ड (Competent Authority and Board)— अधिनियम के अध्याय दो में अधिनियम के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किशोरों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile Justice Board) संप्रेषण गृह आदि का उल्लेख किया है। इसी अध्याय में इनके अधिकारों तथा शक्तियों के बारे में बताया गया है।

5. किशोर का सामाजिक संरक्षण (Social Protection of Juvenile)— इस अधिनियम में यह विशेष तौर पर उल्लेखित किया गया है कि किशोर के अधिकारों को बाल गृह, सामाजिक संपरीक्षण जैसे प्रावधानों को उपबन्धित किया गया है।

6. पुनर्वास (Re-hebilitation)— अधिनियम के अध्याय चार में किशोरों के पुनर्वास के लिये आवश्यक प्रक्रिया को उल्लेखित किया गया है, साथ ही उत्तर रक्षा संगठन (After care organization) की उपयोगिता पर भी बल दिया गया है।

7. अन्य प्रावधान (Other Provisions)— अधिनियम में किशोरों के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के सन्दर्भ में अनेक प्रावधानों को उल्लेखित किया गया है।

प्रश्न 16— किशोर न्याय बोर्ड के गठन, कार्य तथा शक्ति की विवेचना कीजिए।

उत्तर—किशोर न्याय बोर्ड का गठन(Constitution of Juvenile Justice Board)— अधिनियम की धारा 4 में किशोर न्याय बोर्ड के गठन के सम्बन्ध में प्रावधानों को बताया गया है। धारा 4 के प्रावधानों के अनुसार—

(1) दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 में अन्तर्विष्ट किसी बात के रहते हुए भी यह है कि राज्य शासन अधिकारिक राजपत्र में अधिसूचना द्वारा उस अधिसूचना में विनिर्दिष्ट एक जिले या जिलों के समूह के लिये एक या अधिक किशोर न्याय बोर्ड गठित कर सकेगा कि वे विधि (कार्यों में लिप्त) किशोरों के संबंध में इस अधिनियम के अधीन ऐसे बोर्ड को प्रदत्त या उस पर अधिरोपित शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करें।

(2) बोर्ड महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट, जैसी भी स्थिति हो, और दो सामाजिक कार्यक्रमों, जिनमें से कम से कम एक महिला हो, से मिलकर एक खण्डपीठ के रूप में बनेगा, और ऐसी प्रत्येक खण्डपीठ में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 द्वारा, महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट जैसी भी स्थिति हो को प्रदत्त शक्तियां, निहित होंगी, और बोर्ड में नियुक्त मजिस्ट्रेट मुख्य मजिस्ट्रेट के रूप में नाम निर्दिष्ट होगा।

(3) कोई मजिस्ट्रेट तब तक बोर्ड का सदस्य नहीं नियुक्त किया जायेगा, जब तक कि उसे बाल मनोविज्ञान या बाल कल्याण या विशेष ज्ञान या प्रशिक्षण प्राप्त न हो, और कोई भी सामाजिक कार्यकर्ता तब तक बोर्ड का सदस्य मनोनीत नहीं किया जायेगा, जब तक कि वह बालकों से सम्बन्धित स्वास्थ्य, शिक्षा या कल्याणकारी गतिविधियों में कम से कम सात वर्ष से अन्तर्गत न हो।

(4) बोर्ड के ऐसे सदस्यों की पदावधि और वह रीति—जिसमें ऐसे सदस्य त्यागपत्र दे सकते हैं वैसी होगी, जैसी कि विहित की जायेगी।

(5) राज्य शासन द्वारा, बोर्ड के किसी भी सदस्य की नियुक्ति को जांच के पश्चात समाप्त किया जा सकेगा यदि—

(i) वह इस अधिनियम के अधीन निहित किसी शक्ति के दुरुपयोग का दोषी पाया जाये।

(ii) उसे नैतिक अर्धमात्रा में अन्तर्ग्रस्त होने संबंधी किसी अपराध में दोषसिद्ध ठहराया गया हो, और ऐसी दोषसिद्धि को उलटा नहीं गया हो या उसे ऐसे अपराध के बारे में पूर्ण क्षमा प्रदान न की गई हो।

(iii) यह बिना किसी विधिमान्य कारण के लगातार तीन माह तक बोर्ड की कार्यवाही में उपस्थित होने में असफल रहता है या वह वर्ष में होने वाली बैठकों में तीन चौथाई, से कम बैठकों में उपस्थित रहने में असफल रहता है।

बोर्ड के सम्बन्ध में कार्यवाही (Procedure in relation to Board)—बोर्ड अपनी कार्यवाही को किस प्रकार करेगा इस सम्बन्ध में धारा-5 में प्रावधानों को उपबन्धित किया गया है। धारा-5 के अनुसार—

(1) बोर्ड की बैठकें ऐसे समय पर होगी, और वह अपनी बैठकों में कार्य के संव्यवहार के विषय में प्रक्रिया के ऐसे नियमों का संप्रेषण करेगा जैसा कि विहित किया जाये।

(2) जब बोर्ड की बैठक नहीं चल रही हो तब विधि विरोधी कार्यों में संलग्न किसी बालक को बोर्ड के किसी एक सदस्य के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकेगा।

(3) बोर्ड के किसी सदस्य के अनुपस्थित रहने की स्थिति में भी बोर्ड कार्य कर सकेगा, और बोर्ड द्वारा किया गया कोई भी आदेश केवल इस कारण से अवैध नहीं होगा कि कार्यवाही के किसी स्तर पर उसका कोई सदस्य अनुपस्थित था।

परन्तु प्रकारण के अन्तिम निकारण के समय प्रमुख मजिस्ट्रेट सहित कम से कम दो सदस्य उपस्थित होंगे।

(4) किसी अंतरिम या अंतिम व्ययन की दशा में बोर्ड के सदस्यों के मध्य किसी मतभेद के रहने पर बहुमत का अभिमत अभिभावी होगा, किन्तु जहाँ ऐसा बहुमत न हो वहाँ प्रमुख मजिस्ट्रेट का अभिमत अभिभावी होगा।

किशोर न्याय बोर्ड की कार्य और शक्तियाँ (Powers of the Juvenile Board)— धारा 6 के अनुसार किशोर न्याय बोर्ड के निम्नलिखित कार्य होंगे—

(1) जहाँ किसी जिले या जिलों के समुह के लिए बोर्ड गठित कर दिया गया हो, वहाँ तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, किन्तु उसके सिवाय जैसा कि इस अधिनियम के अभिव्यक्तः अन्यथा उपबन्धित है, ऐसे बोर्ड को विधि विरोधी (कार्यों में लिप्त) किशोर से संबंधित, इस अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियों के संबंध में अनन्यतः कार्य करने की शक्ति प्राप्त होगी।

(2) इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन बोर्ड को प्रदत्त शक्तियों उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय द्वारा भी उस दशा में प्रयुक्त की जा सकेगी जब कि कोई कार्यवाही उनके समक्ष अपील या पुनरीक्षण में अन्यथा आए।

संत दास बनाम उत्तर प्रदेश राज्य 2003 (1) AIR 92 (All) के मामले में किशोर न्याय बोर्ड का गठन नहीं किया गया। बोर्ड के सभी अधिकार सत्र न्यायालय को दे दिये गये। वहाँ अभियुक्त को किशोर के रूप में घोषित करने तथा उसकी जमानत के लिये आवेदन को सत्र न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। उच्च न्यायालय ने अभिनिर्णीत किया कि ऐसा आवेदन सीधे सत्र न्यायालय को नहीं किया जा सकता है, बल्कि उसे मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये था।

धारा-14 के अनुसार—“जहाँ कि अपराध आरोपित किशोर, बोर्ड के समक्ष पेश किया जाए, वहाँ बोर्ड इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार जांच करेगा और किशोर के संबंध में ऐसा आदेश कर सकेगा जैसा वह ठीक समझे।” परन्तु यह कि इस धारा के अन्तर्गत एक जांच, उसके आरंभ होने की तिथि से चार माह के अन्दर पूरी कर ली जानी चाहिये जब तक कि प्रकरण की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए और विशेष परिस्थितियों में इसे बढ़ाने के बारे में कारणों को लिखित में अभिलिखित करने के पश्चात् बोर्ड द्वारा इसे बढ़ाया न गया हो।

धारा-15 में उन जाचों को उल्लेखित किया गया है जिनके संबंध में बोर्ड उचित आदेश पारित कर सकता है तथा

धारा-16 में उन आदेशों को उल्लेखित किया गया है जिनके संबंध में बोर्ड को कोई शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं।

प्रश्न 17— किशोर न्यायलय की प्रक्रिया की विशेषताएँ क्या हैं? समीक्षा कीजिए।

उत्तर— किशोर अपचारियों से सम्बंधित न्याय प्रशासन में किशोर न्यायालय महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन न्यायालयों के दायित्व अन्य सामान्य दण्ड-न्यायालयों से भिन्न प्रकृति के होते हैं वे इस धारणा पर कार्य करते हैं कि वे अपचारी किशोर के संरक्षक हैं अतः उनके द्वारा लिया गया निर्णय किशोर के हित के में होना चाहिये। यही कारण है किशोर न्यायालय की कार्य-पद्धति एवं प्रक्रिया सामान्य दण्ड न्यायालयों की प्रक्रिया से पूर्णतः भिन्न है। किशोर न्यायालय की प्रक्रिया निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) **अनौपचारिक सुनवाई**— किशोर न्यायालय की सुनवाई की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल तथा अनौपचारिक पदविवृत संस होती है इसमें सामान्य की भाँति साक्ष्य की विधिक मान्यताओं के आधार पर अपचारी का विचारण किये जाने के बजाय न्यायाधीश, परिवीक्षा अधिकारी, अपचारी, उसके माता-पिता या अभिवाक, सामाजिक कार्यकर्ता, ये सब एक साथ सभा के रूप में बैठकर अपचारी के अपराध और उसके कारणों पर विचार करते हैं। इसमें परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। यद्यपि यह रिपोर्ट गोपनीय स्वरूप की होती है। फिर भी उसका सार किशोर को तथा उसके माता-पिता या संरक्षक को संसूचित किया जाता है ताकि वे रिपोर्ट में कथित बात से सुसंगत कोई साक्ष्य पेश कर सकें।

(2) **गुप्त सुनवाई**— किशोर न्यायालय की कार्यवाही गोपनीय स्वरूप की होती है अर्थात् उसमें न्यायालय के सक्षम अधिकारियों के अतिरिक्त केवल अपचारी, उसके माता-पिता या अभिभावक तथा प्रक्रिया से सम्बन्धित पुलिस अधिकारी ही सम्मिलित रहते हैं। अधिवक्ता के केवल न्यायालय की विशेष अनुमति होने पर ही कार्यवाही में भाग लेने दिया जा सकता है। यदि न्यायालय आवश्यक समझे, तो अपचारी से पूछताछ के समय वह किसी भी व्यक्ति को न्यायालय से बाहर जाने का आदेश दे सकता है। किशोर की पहचान अथवा फोटो आदि छापने की मनाही रहती है जब तक कि यह अपचारी किशोर के हित में न हो।

(3) **किशोर न्यायालय के न्यायाधीश**— किशोर न्याय अधिनियम, 1986 की धारा 6(3) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि कोई भी व्यक्ति किशोर न्यायालय का मजिस्ट्रेट के रूप में तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक वह राज्य सरकार की राय में बाल-मनोविज्ञान तथा बाल कल्याण का विशेष दक्षता न रखता हो इस अधिनियम के अनुसार किशोर न्यायालय के दो अवैतनिक मानसेवी सामाजिक कार्यकर्ताओं में से कम से कम एक महिला हो तथा इन दोनों मानसेवी सदस्यों को निर्धारित अर्हताएँ प्राप्त होनी चाहिये। ये किशोर के बारे में निर्णय लेने में सक्षम प्राधिकारी (मजिस्ट्रेट) की सहायता करेंगे।

(4) **सिद्ध-दोष होने के विधिक परिणामों तथा लांछन से संरक्षण**— किशोर न्यायालयों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य अपचारी को सुधारने के अतिरिक्त यह सुनिश्चित करना भी है कि उनके आपराधिक कृत्यों के विधिक परिणामों का उनके भावी जीवन पर दुष्प्रभाव न पड़े और उनके चरित्र पर लांछन का कलंक न लगने पाये। यही कारण है कि किशोर अपराधी को शपराधी न कहा जाकर अपचारी कहा जाता है। इसी प्रकार उसकी दोष-सिद्धि होने पर उसे दण्डादेश न दिया जाकर दोषसिद्धि पर पारित आदेश दिया जाता है ताकि वह अपराधी कैदी कहलाए जाने के लांछन से बच सके। किशोर न्याय अधिनियम की धारा 25 के अनुसार किशोर न्यायालय द्वारा अपराध किशोर दोषी पाया जाने पर भी वह भावी जीवन में किसी ऐसी निरर्हता (disqualification) के अधीन नहीं होगा, जो विधि के अन्तर्गत अपराधी की दोष-सिद्धि के साथ जुड़ी रहती है।

(5) **सीमित अपील**— सामान्य दण्ड न्यायालयों की प्रक्रिया में अपराधियों की सजा या दोष मुक्ति के विरुद्ध प्रायः दो अपीलों का प्रावधान रहता है। परन्तु किशोर न्यायालय की कार्य-पद्धति में अपील के अधिकार को अत्यधिक सीमित रखा गया है ताकि किशोर को न्यायिक प्रक्रिया के अधीन कम से कम समय रहना पड़े। किशोर न्यायालय द्वारा अपचारी किशोर के निर्दोष पाये जाने के विरुद्ध या किशोर कल्याण बोर्ड द्वारा यह पाया जाने पर कि किशोर उपेक्षित नहीं है, अपील नहीं हो सकता है, अर्थात् किशोर न्यायालय या बोर्ड, यथास्थिति का निर्णय अन्तिम होगा। परन्तु किशोर की दोषसिद्धि या बोर्ड द्वारा शपेक्षित घोषित किये जाने के विरुद्ध अपील सेशन न्यायालय में हो सकती है जिसका निर्णय अन्तिम होगा।

(6) **कारागार से अलग रखा जाना**— अपचारी किशोर की दोष-सिद्धि होने पर भी उसे कारागार न भेजा जाकर किसी किशोर गृह में रखे जाने का आदेश दिया जाता है (The Juvenile is not punished but booked to a Juvenile Home) कारागार और सामान्य दण्ड न्यायालय की कार्यवाही और प्रक्रिया से अपचारी को पूर्णतः अलग रखे जाने का उद्देश्य उन्हें प्रौढ़-अपराधियों की संगति से बचाना है। जहाँ तक सम्भव हो, अपचारी को उसके माता-पिता, संरक्षक या किसी योग्य व्यक्ति की देख-रेख में रहने के लिए घर भेज दिया जाता है, यदि इनमें से कोई न हो तो उसे किशोर-गृह में रखा जाता है। परन्तु किसी भी स्थिति में उसे कारागृह में नहीं भेजा जा सकता। अपचारी को सदाचरण की परिवीक्षा पर भी छोड़ा जा सकता है।

सामान्य आपराधिक न्यायालय (Ordinary Criminal Courts) और किशोर न्यायालय एक दूसरे से निम्नलिखित बातों में भिन्न हैं—

(1) आपराधिक न्यायालय में दण्डाधिकारियों द्वारा अपराधी की दोषसिद्धि तय की जाती है जबकि किशोर न्यायालय अपचारी किशोर की उन परिस्थितियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जो उसके अपचार के लिए कारणीभूत थी।

(2) आपराधिक न्यायालय द्वारा सिद्धदोष अपराधी को दण्ड दिया जाता है जबकि किशोर न्यायालय में अपचारी किशोर को दण्डित नहीं किया जाता, वरन् उसे माता-पिता या संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति की अभिरक्षा में रखे जाने या किशोरगृह में भेजने का आदेश दिया जाता है।

(3) सामान्य आपराधिक न्यायालय में विचारण (trial) की कार्यवाही का स्वरूप सार्वजनिक (public) होता है, लेकिन किशोर न्यायालय के विचारण की प्रक्रिया गोपनीय (Camera Proceedings) होती है।

(4) विचारण की अवधि में आपराधिक न्यायालय के न्यायाधीश का सम्पूर्ण ध्यान साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त आरोपित अपराध का दोषी है अथवा नहीं, इस ओर केन्द्रित रहता है जबकि किशोर न्यायालय का मजिस्ट्रेट अपचारी किशोर के शपचार कृत्य के अलावा उसके अन्य कृत्यों की सापेक्षता तथा परिस्थिति को अधिक महत्व देता है।

(5) आपराधिक न्यायालय में अभियुक्त का अपराध अभियोजन पक्ष द्वारा सबूत के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तथा अभियुक्त अपने वकील के माध्यम से अपना बचाव प्रस्तुत करता है। परन्तु किशोर न्यायालय की कार्यवाही अपचारी-किशोर के बारे में परीवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट के बाद की जाती है। इसमें वकील या अधिवक्ता को पैरवी करने का हक नहीं होता है जब तक कि इसके लिए सक्षम अधिकारी की पूर्वानुमति प्राप्त न कर ली गई हो।

(6) किशोर न्यायालय के मजिस्ट्रेट को बाल-मनोविज्ञान तथा बाल-कल्याण का विशेष ज्ञान होना आवश्यक है। जबकि सामान्य आपराधिक न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिए यह आवश्यक नहीं है।

(7) सिद्धान्तः किशोर न्यायालय के मजिस्ट्रेट अपचारी किशोर के उपचार तथा पश्चात्कर्त्ती देख-रेख (After care) और परिणाम पर अधिक ध्यान देते हैं जबकि आपराधिक न्यायालय के न्यायाधीशों का एकमात्र कार्य दोषसिद्धि तय करना और अपराधी के दोषी पाये जाने पर उसे दण्डित करना होता है।

प्रश्न 18— बालक कल्याण समिति के गठन, कार्य एवं उसका शक्तियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—बालक कल्याण समिति का गठन (Constitution of child welfare Committee)—धारा 27 के अधीन राज्य सरकार प्रत्येक जिले के लिए बाल कल्याण समिति का गठन करेगी और यह सुनिश्चित करेगी की समिति के सभी सदस्यों का अधिष्ठान, प्रशिक्षण और सुग्राहीकरण अधिसूचना की तारीख से दो माह के भीतर प्रदान की जाती है। समिति में एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होंगे जिसमें कम से कम एक महिला होगी और एक बालकों सम्बन्धी मामले से सम्बन्धित विशेषज्ञ होगा। कोई व्यक्ति समिति के सदस्य के रूप में तीन वर्ष से अधिक की अवधि के लिए नियुक्त नहीं किया जायेगा। जिला मजिस्ट्रेट समिति के कार्य का त्रैमासिक पुनर्विलोकन करेगा। समिति पीठ के रूप में कार्य करेगी और उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट शक्तियाँ प्राप्त होगी।

जिला मजिस्ट्रेट, बाल कल्याण समिति के लिए शिकायत समाधान प्राधिकारी होगा और कोई भी व्यक्ति जो बालक से सम्बद्ध हो, जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष याचिका दाखिल कर सकेगा जो उस पर विचार करेगा और समुचित आदेश पारित करेगा। बाल कल्याण समिति एक माह में कम से कम बीस दिन बैठक करेगी। समिति द्वारा विद्यमान बालक देखरेख संस्था के निरीक्षण करने और उसके कार्यों और बालकों के कल्याण की जांच-पड़ताल करने पर समिति की बैठक में विचार किया जायेगा। कोई विनिश्चय लेते समय समिति के सदस्यों के बीच मत-भिन्नता की दशा में बहुमत की राय अभिभावी होगी किन्तु जहाँ कोई बहुमत न हो, वहाँ अध्यक्ष की राय अभिभावी होगी। मामले के अन्तिम निस्तारण के समय कम से कम तीन सदस्य उपस्थित होंगे।

धारा 29 के अन्तर्गत बाल कल्याण समिति की शक्तियाँ दी गयी हैं एवं धारा 30 के अधीन समिति के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का उल्लेख है।

धारा 29 के अनुसार देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों की देखरेख, संरक्षण, उपचार और पुनर्वास के लिए मामलों के निपटारा करने का और उनकी मूलभूत आवश्यकताओं और संरक्षण के लिए व्यवस्था करने का प्राधिकार समिति को प्राप्त होगा।

जहाँ किसी क्षेत्र के लिए समिति गठित की गई है, वहाँ ऐसी समिति, तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में समाविष्ट किसी बात के होते हुए भी, किन्तु इस अधिनियम में अभिव्यक्त रूप में अन्यथा उपबन्धित के सिवाय, देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन सभी कार्यवाहियों के साथ अनन्य रूप से संव्यवहार करने की शक्ति होगी।

समिति के कार्य एवं उत्तरदायित्व में निम्नलिखित आते हैं —

- (i) उसके समक्ष पेश किए गए बालक का संज्ञान लेना और प्राप्त करना।
- (ii) इस अधिनियम के अधीन बालकों की सुरक्षा एवं भलाई सम्बन्धी और प्रभावित करने वाले सभी विवादों पर जांच करना।
- (iii) बाल कल्याण अधिकारियों का परिवीक्षा अधिकारियों या जिला बाल कल्याण इकाई या गैर सरकारी संगठनों को सामाजिक अन्वेषण करने और समिति के समक्ष रिपोर्ट पेश करने का निर्देश देना।
- (iv) देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों की देखरेख के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को घोषित करने के लिए जांच करना।
- (v) पालक देखरेख में बालक को रखे जाने का निदेश करना।
- (vi) बालक की व्यक्तिगत देखरेख योजना पर आधारित, देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों के संरक्षण, समुचित पुनर्वास या प्रत्यावर्तन सुनिश्चित करना और इस सम्बन्ध में माता-पिता या संरक्षकों या उचित व्यक्तियों, बाल गृहों या उपयुक्त सुविधा को आवश्यक निर्देश पारित करना।
- (vii) बालक की आयु, लिंग, निर्योग्यता के आधार पर और संस्था की उपलब्ध क्षमता को मस्तिष्क में रखते हुए सांस्थानिक सहायता की आवश्यकता वाले प्रत्येक बालक के स्थानन के लिए रजिस्ट्रीकृत संस्था का चयन करना।
- (viii) देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालकों के लिए आवासीय सुविधाओं का प्रतिमाह कम से कम दो निरीक्षण दौरा करना और जिला बाल संरक्षण इकाई और राज्य सरकार को सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार के लिए कार्यवाई की सिफारिश करना।
- (ix) माता-पिता द्वारा अभित्याग के निष्पादन को प्रमाणित करना और यह सुनिश्चित करना कि उन्हें अपने विनिश्चय पर पुनर्विचार करने का समय दिया जाता है, और कुटुम्ब को एक साथ रखने के लिए सभी प्रयत्न करना।
- (x) यह सुनिश्चित करना कि ऐसी सम्यक् प्रक्रिया का जो विहित की जाये, का पालन करते हुए उनके परिवारों में, परित्यक्त या खोए हुए बालकों के प्रत्यावर्तन के लिए सभी प्रयत्न किये जाते हैं।
- (xi) अनाथ, परित्यक्त और अभित्यक्त बालक को सम्यक् जांच के पश्चात् दत्तक ग्रहण के लिए वैध रूप से स्वतंत्र रूप में घोषित करना।
- (xii) मामलों का और देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले पहुंच के बाहर के उन बालकों का स्वतः संज्ञान लेना जिन्हें समिति के समक्ष पेश नहीं किया गया है, परन्तु ऐसा विनिश्चय कम से कम तीन सदस्यों द्वारा लिया जाता है।

देखरेख और संरक्षकर्ता वाले किसी बालक को धारा 31 के अधीन समिति के समक्ष पेश किया जाता है।

देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले किसी बालक को निम्नलिखित व्यक्तियों में से किसी के द्वारा समिति के समक्ष पेश किया जा सकेगा —

- (i) कोई पुलिस अधिकारी या विशेष किशोर पुलिस इकाई या पदाभिहित बाल कल्याण पुलिस अधिकारी या जिला बाल कल्याण पुलिस अधिकारी या जिला बाल संरक्षण इकाई का कोई अधिकारी या तत्समय प्रवृत्त किसी श्रम विधि के अधीन नियुक्त निरीक्षक,
- (ii) कोई लोक सेवक,
- (iii) चाइल्डलाइन सेवाएं या कोई स्वैच्छिक गैर-सरकारी संगठन या कोई अभिकरण जैसा कि राज्य सरकार द्वारा मान्य किया जाए,
- (iv) बाल कल्याण अधिकारी या परिवीक्षा अधिकारी,
- (v) कोई सामाजिक कार्यकर्ता या लोकभावना से अभिभूत कोई नागरिक, अथवा
- (vi) स्वयं बालक द्वारा,
- (vii) नर्सिंग होम, अस्पताल, प्रसूति गृह की कोई नर्स, डाक्टर अथवा प्रबन्धक,

परन्तु, बालक समय की किसी क्षति के बिना, किन्तु यात्रा के लिए आवश्यक समय को अपवर्जित करके चौबीस घण्टे की अवधि के भीतर समिति के समक्ष पेश किया जाएगा।

प्रश्न 19— निदर्शकवादों की सहायता से शोषण के विरुद्ध मौलिक अधिकारों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— संविधान के अनुच्छेद 23 एवं 24 में मानव पण्य (मानव का दुर्व्यापार) एवं बलात् श्रम को वर्जित किया गया है। अनुच्छेद 23 मनुष्यों का क्रय-विक्रय (मानव पण्य) बेगार एवं अन्य इसी प्रकार के बलात् श्रम कराने का निषेध करता है तथा इस उपबन्ध का उल्लंघन का दण्डनीय अपराध घोषित करता है। अनुच्छेद 23 न केवल राज्य के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है वरन् प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करता है। इन उपबन्धों द्वारा भारतीय समाज के दो बहुत बड़े कलकों का अंत हो गया है। प्रथम नारी क्रय-विक्रय तथा दूसरी बेगार प्रथा, यह दोनों कुरीतियां भारत में बहुत समय से चली आ रही थीं। इस अनुच्छेद के द्वारा केवल बेगार ही नहीं, बल्कि अन्य किसी भी प्रकार के बलात् श्रम का निषेध किया गया है। भारतीय समाज के जमींदार, राजा, नवाब या अन्य शक्तिशाली एवं समृद्ध लोग कनजोर तथा गरीब वर्ग के लोगों से बेगार कराते थे तथा उन्हें मजदूरी भी नहीं मिलती थी। गरीबी के कारण लोग घन के लालच में मनुष्यों का क्रय-विक्रय भी किया करते थे इन अमानवीय प्रथाओं को दूर करना आवश्यक था। इसलिए संविधान में इन उपबन्धों का समावेश किया गया है।

दीना बनाम भारत संघ AIR 1983, SC 1155 के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उचित पारिश्रमिक दिये बिना कैदियों से काम कराना बलात् श्रम है और यह अनुच्छेद 23 का उल्लंघन होता है। कैदियों को अपने काम के लिए उचित मजदूरी पाने का हक और न्यायालय का उनके दावे को प्रवर्तित करने का कर्तव्य है।

नीरजा चौधरी बनाम मध्य प्रदेश राज्य. (1984) 3 SCC 243 के मामले में अभिनिर्धारित किया गया कि बंधुआ मजदूर प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम, 1976 के अधीन सरकार का कर्तव्य केवल बंधुआ मजदूरों को मुक्त कराना ही नहीं वरन् उनके पुनर्वास की उचित व्यवस्था करना भी है जिसके अभाव में वे फिर शोषण के शिकार न हो सकते हैं। उपर्युक्त अधिनियम का कार्यान्वयन न करना अनुच्छेद 23 का सरासर उल्लंघन है।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ, AIR 1984, SC 802 के मामले में उच्च न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि जब किसी लोकहित वाद के माध्यम से न्यायालय में आरोप लगाया जाता है कि किसी स्थान पर बंधुआ मजदूर हैं तो राज्य को इसका स्वागत करना चाहिए क्योंकि इससे सरकार को यह जांच करने का कि क्या श्रमिकों से बलात्श्रम लिया जाता है तथा साथ ही साथ उसे कैसे समाप्त किया जा सकता है दोनों के लिए अवसर मिलता है। अनुच्छेद 23 के अधीन सरकार का यह एक सांविधानिक कर्तव्य है। अनुच्छेद 23 ने बंधुआ मजदूर प्रणाली को समाप्त कर दिया है तथा इसी उद्देश्य से संसद ने बंधुआ मजदूर प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम, 1976 पारित किया है।

संकटपूर्ण नियोजनों में बालकों को लगाने पर प्रतिबन्ध (Prohibition of Employment of Children in Hazardous Employments)— (अनुच्छेद-24) भारतीय संविधान का अनुच्छेद 24 जन-स्वास्थ्य के हितों एवं बालकों के जीवन की सुरक्षा सम्बन्धी उपबन्ध करता है। यह अनुच्छेद चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों को किसी कारखाने या खान अथवा किन्हीं अन्य जोखिम भरे कार्यों में लगाने का प्रतिषेध करता है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य कम आयु के बच्चों के स्वास्थ्य एवं जीवन की रक्षा करना है क्योंकि आज के बालक ही देश के भावी नागरिक होते हैं। इस अनुच्छेद के अतिरिक्त संविधान का अनुच्छेद 39 भी राज्य पर यह कर्तव्य अधिरोपित करता है कि वह अपने देशवासियों के स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता को सुरक्षित रखे तथा इस बात का ध्यान रखे कि आर्थिक आवश्यकता से मजबूर होकर व्यक्ति अपनी आयु एवं शारीरिक क्षमता को हानि पहुंचाने वाले पेशे को न अपनाएं। राज्य ने अपने इस कर्तव्य के पालन में बालक नियोजन अधिनियम, 1938, बाल श्रम (गिरवीकरण) अधिनियम, 1933, बाल श्रम (प्रतिषेध एवं विनियम) अधिनियम, 1986 पारित किये हैं। बालक नियोजन अधिनियम, 1938 चौदह वर्ष से कम आयु वाले बालकों को रेलवे एवं अन्य यातायात सम्बन्धी कामों में नियुक्त करने को प्रतिबंधित करता है। कारखाना अधिनियम, 1948, खान अधिनियम, 1952, वाणिज्य पोत परिवहन अधिनियम, 1958 मोटर परिवहन कर्मकार अधिनियम, 1961, बागान श्रम अधिनियम 1951, शिशु अधिनियम 1961, बीड़ी एवं सिगार कर्मकार (नियोजन की शर्तें) अधिनियम, 1966 आदि अनेक अधिनियम कारखानों, खानों एवं अन्य संकटपूर्ण नियोजनों में चौदह वर्ष से कम आयु वाले बालकों को नियुक्त करने को प्रतिषेधित करते हैं।

पीपुल्स यूनिन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ, AIR 1983, SC 1473 के मामले में उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि भवन-निर्माण कारखाने में बालक नियोजन अधिनियम 1939 लागू नहीं होता है। क्योंकि अधिनियम की अनुसूची में शनिर्माण कार्य का उल्लेख नहीं किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को अस्वीकार करते हुए अवधारित किया कि भवन निर्माण कार्य अनुच्छेद 24 के अर्थान्तर्गत एक जोखिम वाला (संकटपूर्ण)

कार्य है अतः उसमें चौदह वर्ष के बालकों को नियोजित नहीं किया जा सकता है, भले ही उसका उल्लेख अधिनियम की अनुसूची में न किया गया हो। न्यायाधिपति श्री भगवती ने दुख व्यक्त करते हुए राज्य सरकारों को परामर्श दिया कि भवन निर्माण कार्य को अधिनियम में शामिल करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र कदम उठाएँ तथा यह सुनिश्चित करें कि अनुच्छेद 24 के संवैधानिक आदेश का देश के किसी भी भाग में उल्लंघन न किया जाए। उच्चतम न्यायालय ने अपने इसी निर्णय को **लेबरर्स वर्किंग ऑन सलाल हाइड्रो प्रोजेक्ट बनाम जम्मू एवं कश्मीर राज्य, AIR. 1984, SC 177** के मामले में भी लागू किया।

प्रश्न 20— निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये।

उत्तर— (1) किशोर न्यायालय

किशोर न्याय बोर्ड का गठन (Constitution of Juvenile Justice Board)— अधिनियम की धारा 4 में किशोर न्याय बोर्ड के गठन के सम्बन्ध में प्रावधानों को बताया गया है। धारा 4 के प्रावधानों के अनुसार —

(1) दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 में अन्तर्विष्ट किसी बात के रहते हुए भी यह है कि राज्य शासन अधिकारिक राजपत्र में अधिसूचना द्वारा उस अधिसूचना में विनिर्दिष्ट एक जिले या जिलों के समूह के लिये एक या अधिक किशोर न्याय बोर्ड गठित कर सकेगा कि वे विधि (कार्यों में लिप्त) किशोरों के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन ऐसे बोर्ड को प्रदत्त या उस पर अधिरोपित शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करे।

(2) बोर्ड महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट, जैसी भी स्थिति हो, और दो सामाजिक कार्यक्रमों, जिनमें से कम से कम एक महिला हो, से मिलकर एक खण्डपीठ के रूप में बनेगा, और ऐसी प्रत्येक खण्डपीठ में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 द्वारा, महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट जैसी भी स्थिति हो को प्रदत्त शक्तियाँ, निहित होगी, और बोर्ड में नियुक्त मजिस्ट्रेट मुख्य मजिस्ट्रेट के रूप में नाम निर्दिष्ट होगा।

(3) कोई मजिस्ट्रेट तब तक बोर्ड का सदस्य नहीं नियुक्त किया जायेगा, जब तक कि उसे बाल मनोविज्ञान या बाल कल्याण या विशेष ज्ञान या प्रशिक्षण प्राप्त न हो, और कोई भी सामाजिक कार्यकर्ता तब तक बोर्ड का सदस्य मनोनीत नहीं किया जायेगा, जब तक कि वह बालकों से सम्बन्धित स्वास्थ्य, शिक्षा या कल्याणकारी गतिविधियों में कम से कम सात वर्ष से अन्तर्गत न हो।

(4) बोर्ड के ऐसे सदस्यों की पदावधि और वह रीति—जिसमें ऐसे सदस्य त्यागपत्र दे सकते हैं वैसी होगी, जैसी कि विहित की जायेगी।

(5) राज्य शासन द्वारा, बोर्ड के किसी भी सदस्य की नियुक्ति को जांच के पश्चात् समाप्त किया जा सकेगा यदि —

(i) वह इस अधिनियम के अधीन निहित किसी शक्ति के दुरुपयोग का दोषी पाया जाये।

(ii) उसे नैतिक अर्धमात्रा में अन्तर्यस्त होने संबंधी किसी अपराध में दोषसिद्ध ठहराया गया हो, और ऐसी दोषसिद्धि को उलटा नहीं गया हो या उसे ऐसे अपराध के बारे में पूर्ण क्षमा प्रदान न की गई हो।

(iii) यह दिना किसी विधिमान्य कारण के लगातार तीन माह तक बोर्ड की कार्यवाही में उपस्थित होने में असफल रहता है या वह वर्ष में होने वाली बैठकों में तीन चौथाई, से कम बैठकों में उपस्थित रहने में असफल रहता है।

बोर्ड के सम्बन्ध में कार्यवाही (Procedure in relation to Board)— बोर्ड अपनी कार्यवाही को किस प्रकार करेगा इस सम्बन्ध में धारा — 5 में प्रावधानों को उपबन्धित किया गया है। धारा 5 के अनुसार —

(1) बोर्ड की बैठकें ऐसे समय पर होगी, और वह अपनी बैठकों में कार्य के संव्यवहार के विषय में प्रक्रिया के ऐसे नियमों का संप्रेषण करेगा जैसा कि विहित किया जाये।

(2) जब बोर्ड की बैठक नहीं चल रही हो तब विधि विरोधी कार्यों में संलग्न किसी बालक को बोर्ड के किसी एक सदस्य के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकेगा

(3) बोर्ड के किसी सदस्य के अनुपस्थित रहने की स्थिति में भी बोर्ड कार्य कर सकेगा और बोर्ड द्वारा किया गया कोई भी आदेश केवल इस कारण से अवैध नहीं होगा कि कार्यवाही के किसी स्तर पर उसका कोई सदस्य अनुपस्थित था।

परन्तु प्रकरण के अन्तिम निकारण के समय प्रमुख मजिस्ट्रेट सहित कम से कम दो सदस्य उपस्थित होंगे।

(4) किसी अंतरिम या अंतिम व्ययन की दशा में बोर्ड के सदस्यों के मध्य किसी मतभेद के रहने पर बहुमत का अभिमत अभिभावी होगा, किन्तु जहाँ ऐसा बहुमत न हो वहाँ प्रमुख मजिस्ट्रेट का अभिमत अभिभावी होगा।

(2) अजन्में बालक के अधिकार या अजात व्यक्ति के लाभ के लिए अन्तरण— अजात व्यक्ति के लाभ के लिए अन्तरण धारा 13 अजन्में व्यक्ति के पक्ष में सम्पत्ति के अन्तरण के सम्बन्ध में है। धारा 13 यह उल्लेख करती है कि यदि सम्पत्ति अन्तरण किसी ऐसे व्यक्ति के पक्ष में किया जाता है जो अन्तरण के समय अस्तित्व में नहीं है तो ऐसे अन्तरण किसी जीवित व्यक्ति में हित सृष्ट करके किया जा सकता है और यह तभी प्रभावी होगा जब अन्तरक सम्पूर्ण अवशिष्ट हित का अन्तरण किया हो।

धारा 13 के अनुसार अजन्में व्यक्ति को सम्पत्ति का अन्तरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

(1) अजन्में व्यक्ति को सीधे सम्पत्ति का अन्तरण नहीं किया जा सकता है क्योंकि अन्तरण के समय वह अस्तित्व में नहीं है। इसलिए अजात व्यक्ति के पक्ष में अन्तरण एक जीवित व्यक्ति में सम्पत्ति को कुछ सीमा तक (आजीवन हित) अन्तरित की जाये।

गिरीजेशदत्त बनाम दत्तादीन के वाद में प्रिवी काउन्सिल ने निर्णीत किया था कि यदि किसी सम्पत्ति को अजन्में व्यक्ति को अन्तरण करना है, तो सर्वप्रथम किसी जीवित व्यक्ति को कुछ सीमा तक अथवा जीवित तक अन्तरण करना पड़ेगा। उसकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति अजन्में व्यक्ति में निहित हो जायेगी।

उदाहरणार्थ, अ नामक व्यक्ति ब नामक व्यक्ति को एक मकान का अन्तरण जीवन भर के लिए करता है। उसके बाद वह सम्पत्ति व के पुत्र (अजन्मे) को अन्तरण करता है तो जैसे ही ब को पुत्र होता है वैसे ही सम्पत्ति पुत्र में निहित हो जायेगी लेकिन उस सम्पत्ति का उपभोग करने का अधिकार पुत्र के 18 वर्ष की उम्र तक स्थगित रहेगा।

यदि अजन्मे के जन्म लेने से पूर्व ही ब की मृत्यु हो जाती है तो सम्पत्ति अ को और अ की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारियों को वापस चली जायेगी। यदि पुत्र जीवित पैदा होने के बाद मर जाता है तो सम्पत्ति पुत्र के उत्तराधिकारियों में चली जायेगी।

अजन्मे के अस्तित्व में आने से पूर्व एक से अधिक व्यक्तियों में एक के बाद एक जीवित व्यक्तियों में सम्पत्ति का अन्तरण जीवन हित के लिए किया जा सकता है। लेकिन अन्तिम अन्तरिती (अजात) को सम्पत्ति में पूर्ण हित मिलना चाहिए न कि सीमित हित। सीमित हित का अन्तरण शून्य होगा।

(2) अजन्मे व्यक्ति का जन्म पहले हित के समाप्त होने के पूर्व होना चाहिए। यदि अजन्मे व्यक्ति के जन्म से पूर्व जीवित व्यक्ति जिसमें पूर्व हित सृष्ट किया गया है, की मृत्यु हो जाती है तो सम्पत्ति अन्तरणकर्ता के पास वापस चली जायेगी।

उदाहरणार्थ, क, ख के अजन्मे पुत्र के पक्ष में सम्पत्ति की अन्तरण करता है। ऐसा अन्तरण करता है। ऐसा अन्तरण ख को जीवन हित के लिए किया जाता है। ख के पुत्र होने से पूर्व ही ख मर जाता है। सम्पत्ति क को वापस चली जायेगी।

(3) अजन्मे व्यक्ति को सम्पत्ति में पूर्ण हित अन्तरण होना चाहिए न कि जीवित हित, यदि जीवन हित का अन्तरण किया जाता है तो अन्तरण मान्य नहीं होगा।

उदाहरणार्थ, अ सम्पत्ति का अन्तरण व के जीवन के लिए करता है उसके बाद उसके अजन्मे पुत्र को जीवन भर के लिए करता है उसके बाद अजन्मे पुत्र के अजन्मे पुत्र को करता है, ऐसा अन्तरण शून्य होगा।

अन्तरणकर्ता अजन्मे व्यक्ति को सम्पत्ति का अन्तरण करने के पश्चात् वह दूसरे अजन्मे व्यक्ति को अन्तरण करने के निर्देश नहीं दे सकता है। सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 13 दोहरी सम्भवता को (Double Possibility) मान्यता नहीं देता है।

(3) बालगृह (Children's Homes)–

बालगृह के संबंध में अधिनियम की धारा-34 के अनुसार –

(1) राज्य शासन स्वयं या स्वयंसेवी संगठनों के सहयोजन में, यथास्थिति प्रत्येक जिले या जिलों के समुह में किसी जाँच के लम्बित रहने के दौरान और पश्चात्कर्तव्य उनकी देखरेख, उपचार, शिक्षा, प्रशिक्षण, विकास और पुनर्वास के लिए, देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता में बालक के स्वागत के लिए बाल-गृह स्थापित और अनुरक्षित कर सकेगा।

(2) राज्य शासन, बाल गृहों के प्रबंधन के लिए मानकों और उनके द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सेवा की प्रकृति और परिस्थितियाँ जिनमें, तथा रीति जिसमें, बाल गृह का प्रमाणीकरण या एक स्वयंसेवी संगठन को मान्यता दी या वापिस ली जा सकेगी, के संबंध में इस अधिनियम के अन्तर्गत बनाए गए नियमों द्वारा उपबंध कर सकेगा।

धारा 35 के अनुसार– राज्य शासन बालगृहों हेतु, यथास्थिति राज्य, जिला, नगर के लिए निरीक्षण समितियाँ (जिन्हें इसमें पश्चात् निरीक्षण समितियों के रूप में संदर्भित किया जाएगा) नियुक्त कर सकता है, जो उस अवधि तथा उन प्रयोजनों के लिए होंगी, जैसी कि विहित किया जाए।

राज्य जिला या नगर की निरीक्षण समिति, राज्य शासन, स्थानीय प्राधिकारी, समिति, स्वयंसेवी संगठन और ऐसे अन्य चिकित्सा विशेषज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं में से उस संख्या में प्रतिनिधियों को मिलाकर बनेगी, जैसा कि विहित किया जाए।

धारा-36 के अनुसार – केन्द्र शासन या राज्य शासन, बाल गृहों की कार्य प्रणाली का, जैसा कि शासन द्वारा विनिर्दिष्ट किया जाए, ऐसी समयावधि में या ऐसे व्यक्ति के और संस्था के माध्यम से, अनुश्रवण या मूल्यांकन करा सकेगी।

(4) आश्रम गृह (Shelter Homes) – आश्रम गृह के सम्बन्ध में धारा 37 में प्रावधानों को उबन्धित किया गया है। धारा-37 के अनुसार (1) राज्य शासन प्रतिष्ठित एवं सक्षम स्वयंसेवी संगठनों को मान्यता दे सकेगा और उन्हें किशोरों या बालकों के लिये जितने भी आवश्यक हों, उतने ही आश्रय गृह स्थापित करने और प्रशासन करने के लिये सहायता दे सकता है।

(2) उपधारा (1) में संदर्भित आश्रय गृह, ऐसे बालकों के जिन्हें तुरन्त संभाल की आवश्यकता है, और जिन्हें ऐसे गृहों में ऐसे व्यक्तियों द्वारा लाया गया है जो कि धारा 32 की उपधारा (1) में संदर्भित हैं के अनौपचारिक केन्द्रों के रूप में कार्य करेगी।

(3) जहाँ तक संभव हो, आश्रय गृहों में ऐसी सुविधाएं होना चाहिए जैसी कि नियमों द्वारा विहित की जाएं।

(5) विधि विरोधी (कार्यों में लिप्त) किशोर (Juvenile in conflict with Law) – अधिनियम की धारा 2 (1) के अनुसार – विधि विरोधी कार्यों में लिप्त किशोर से तात्पर्य एक ऐसे किशोर से है, जिस पर किसी अपराध के करने का आरोप हो।

“Juvenile in conflict with law means a Juvenile who is alleged to have committed an offence”

इस अधिनियम से पहले के विधानों में ऐसे बालक को बाल अपराधी कहा गया था।

बाल अधिनियम 1960 में बाल अपराधी की परिभाषा इस प्रकार की गई थी, श्वाल अपराधी वह बालक है जो किसी अपराध का दोषी पाया गया है।

डॉ० पी० एन० वर्मा के अनुसार बाल अपराध कर्तव्यों की उपेक्षा अथवा उल्लंघन है, एक गलती है।

राबिन्स के अनुसार बाल अपराधों से अभिप्राय आवरागर्दी, भ्रष्टाचार, दुर्यापहार, शैतानी उच्छता आदि प्रवृत्तियों से हैं।

डॉ० एम० जे० सेठना के अनुसार बाल अपराध के अन्तर्गत किल्सी बालक अथवा ऐसे तरुण व्यक्ति के गलत कार्य आते हैं जो तत्समय प्रचलित विधि द्वारा निर्दिष्ट आयु के भीतर हैं।

(6) भीख मांगना (Begging) अधिनियम की धारा 2 (इ) के अनुसार भीख मांगना से अभिप्रेत हैं–

1. लोक स्थान में भिक्षा की याचना या प्राप्ति, या किसी प्राईवेट परिसर में भिक्षा की याचिका या प्राप्ति हेतु प्रवेश करना, चाहे वह किसी भी बहाने से हो।
2. भिक्षा अभिप्राप्त या उपार्जन करने के उद्देश्य से हैं, अपना या किसी अन्य व्यक्ति या जीव-वस्तु का कोई व्रण, घाव, क्षति विरूपता या रोग अभिदर्शित या प्रदर्शित करना।

“begging” means— याचना या प्राप्ति

Soliciting— याचिका या प्राप्ति

1. Soliciting or receiving alms in a public place or entering into any private premises for the purpose of soliciting or receiving alms whether under any pretence.
2. Exposing or exhibiting with the object of obtaining or extorting alms] any sore wound, injury, deformity or disease, whether of himself or of any other person or of animal.

(7) देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता में बालक (बिपसक पद दममक विबंतम दक च्त्वजमबजपवद) अधिनियम की धारा 2(क) के अनुसार— देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता में बालक से अभिप्रेत है एक ऐसा बालक—

1. जो बिना किसी आश्रय, या निश्चित स्थल या निवास स्थान के पाया जाए और बिना किसी जीवन-निर्वाह के दृश्यमान साधन के हो।
2. जो व्यक्ति किसी (चाहे बालक का अभिभावक हो या नहीं हो) के साथ रहता है। और ऐसे व्यक्ति से—
(क) बालक को उसका वध कर देने या उसे क्षति पहुंचाने की धमकी दी हो और उस धमकी के कार्यान्वित किये जाने की संभावना या

(ख) किसी अन्य बालक या बालकों का वध किया दुरुपयोग किया उपेक्षा की, और जहाँ प्रश्नगत बालक का किसी व्यक्ति द्वारा बध किये जाने दुरुपयोग किये जाने, या उपेक्षा किये जाने की युक्तियुक्त संभावना है।

1. जो कि मानसिक या शारीरिक आक्षेप से ग्रसित हो, या बुरा बालक हो या टर्मिनल रोग से या असाध्य बीमारी से पीड़ित बालक हो। जिसकी संभाल या देखभाल के लिये कोई न हो।
2. जिसके माता-पिता या अभिभावक हो और ऐसे माता पिता या अभिभावक बालक पर नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य या अक्षम हों।
3. जिसके माता-पिता नहीं हैं, और जिसकी देखभाल के लिए कोई भी इच्छुक नहीं हैं या जिसके माता-पिता ने उसे त्याग दिया है, या जो लापता और भागा हुआ बालक है और जिसके माता-पिता युक्तियुक्त जांच के बाद भी खोजे नहीं जा सकते।
4. जो कि स्पष्टतया शोषित और यंत्रणा प्राप्त है, या यौन शोषण के अथवा अवैधानिक कार्यों के उद्देश्य से शोषित है या जिसके इस प्रकार (शोषित) होने की संभावना है।
5. जिसे असुरक्षित पाया गया है और जिसके नशीली, वस्तुओं (ड्रग्स) के सेवन में या उसके कारोबार में लिप्त हो जाने की संभावना है।
8. जो कि अविवेकपूर्ण प्राप्तियों के लिये बुरे कार्यों में लिप्त है या जिसके ऐसे कार्यों में हो जाने की संभावना है।
7. जो किसी सशस्त्रा संघर्ष, नागरिक उत्तेजना या प्राकृतिक आपदा से पीड़ित है।

(8) किशोर (Juvenile) अधिनियम की धारा 2 (k) के अनुसार— किशोर था बालक से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसने अठारह वर्ष की आयु पूर्ण न की हो।

श्रनअमदपसम वत बिपसक उमदे च्मतेवद्वीपि दवज बवउचसमजमक मपहीजममदजी लमंत विहम
किशोर न्याय अधिनियम 1986 में लड़का एवं लड़की दोनों के लिए अलग-अलग उम्र रखी थी। उक्त अधिनियम के अनुसार यदि लड़का है तब 16 वर्ष एवं यदि लड़की है तब 18 वर्ष तक की आयु वाला व्यक्ति किशोर कहलाता था, परन्तु वर्तमान अधिनियम ने यह विभाजन खत्म कर दिया है।

किसी व्यक्ति की किशोर आयु का पता लगाने के लिए न्यायालय को अपने समक्ष उपलब्ध सम्पूर्ण साक्ष्य एवं प्रमाण पर विचार करना चाहिये। विद्यालय के रजिस्टर में आयु सम्बन्धी प्रविष्टि की उपेक्षा करते हुए शारीरिक गठन एवं ऊँचाई के आधार पर आयु सम्बन्धी राय बना लेना उचित नहीं है। इसी प्रकार मात्र चिकित्सीय परीक्षण के आधार पर राय निर्मित करना भी न्यायसंगत नहीं है।

यदि कोई अभियुक्त व्यक्ति न्यायालय के समक्ष यह कहता है कि अपराध कारित करने के समय वह बालक अथवा किशोर था तो न्यायालय को इस तथ्य की समुचित जांच कर आयु बाबत निष्कर्ष निकालना चाहिये।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (international monetary fund)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच मौद्रिक सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना 22 जुलाई 1944 को संयुक्त राष्ट्र मुद्रा एवं वित्त सम्मेलन (ब्रटेनवुड्स, न्यूहैम्पशायर, सं.रा. अमेरिका) में एक समझौते के तहत की गई। यह समझौता 27 दिसम्बर, 1945 से प्रभावी हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 1 मार्च, 1947 से इसने अपना कार्य प्रारम्भ किया। संयुक्त राष्ट्र के साथ इसका सम्बन्ध परस्पर सहयोग के एक समझौते के अनुसार निर्धारित है जो 15 नवम्बर, 1947 को लागू हुआ था। कोष के अनुच्छेदों में प्रथम संशोधन 28 जुलाई, 1969 को हुआ था जिसमें विशेष आहरण अधिकारों (एस.डी.आर.) का प्रावधान रखा गया था।

दूसरा संशोधन 1 अगस्त, 1978 को लागू हुआ।

उद्देश्य— अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- (1) मुद्रा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों के बारे में परामर्श और सहयोग के लिए तंत्र उपलब्ध कराके विश्व स्तर पर सहयोग को बढ़ावा देना;
- (2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास को बढ़ावा देने में मदद करना और उत्पादक क्षमताके विकास में योगदान करना,
- (3) विनिमय स्थिरता और व्यवस्थित विनियम प्रबन्ध को बढ़ावा देना और प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन से बचाने के उपाय करना,
- (4) चालू लेन-देन के लिए बहुराष्ट्रीय भुगतान और हस्तान्तरण प्रणाली को मजबूत करना तथा विदेशी मुद्रा प्रतिबन्धों को समाप्त करने के प्रयास करना, जो विश्व व्यापार के विकास में रुकावट डालते हैं.
- (5) मुद्रा कोष के सामान्य संसाधनों को समुचित सुरक्षा के तहत अस्थायी तौर पर सदस्य देशों को उपलब्ध कराना, ताकि वे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि को क्षति पहुंचाए बिना ही अपने भुगतान संतुलन की कठिनाइयों को दूर कर सकें।
- (6) भुगतान असंतुलन की अवधि और मात्रा को कम करना।

संक्षेप में, मुद्रा कोष का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे सदस्य देशों को विदेशी विनिमय की सुविधा हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले और सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति हो सकें।

कोष के प्रबन्ध के लिए प्रशासक मण्डल है जो साधारण सभा का कार्य करता है। कोष के प्रतिदिन के कार्य-संचालन हेतु एक प्रबन्धक मण्डल होता है। जिसका अध्यक्ष प्रबन्ध निदेशक (MD.) होता है। इस मण्डल में कम से कम 24 सदस्यों का होना आवश्यक है। जिनमें से 5 स्थायी और शेष अस्थायी होते हैं। विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय उस देश में रहेगा जिसका कोष सबसे अधिक हो। इस समय अमरीका का कोष सबसे अधिक होने के कारण कार्यालय वाशिंगटन डी.सी. (अमेरिका) में ही रखा गया है।

(10) शिक्षा का मूल अधिकार—

संविधान (86वां संशोधन) अधिनियम, 2002 द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 21—क जोड़कर 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा को मूल अधिकार बना दिया गया है। अनुच्छेद 21—क का मूल पाठ इस प्रकार है —

“राज्य ऐसी रीति से जैसा कि विधि बनाकर निर्धारित करे, 8 वर्ष की आयु से 14 वर्ष की आयु के सभी बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए उपबन्ध करेगा।”

निःसन्देह 86 वें संविधान संशोधन द्वारा की गई यह एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है, क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के एक लम्बे समय बाद भी लगभग 40 प्रतिशत बालक शिक्षा से वंचित है। **यूनीकृष्णन बनाम स्टेट ऑफ आन्ध्र प्रदेश के मामले** में उच्चतम न्यायालय द्वारा बहुत पहले 14 वर्ष तक के बालकों के लिए शिक्षा को मूल अधिकार घोषित कर दिया गया था। उच्चतम न्यायालय के इसी निर्णय की पुष्टि अब संविधान में अनुच्छेद 21—क जोड़कर की गई है।

शफीक एस. मैनेजर बनाम स्टेट ऑफ केरल, के मामले में उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अनुच्छेद 21क के अन्तर्गत उपलब्ध संरक्षण का लाम अमान्य एवं अप्राधिकृत शिक्षण संस्थायें नहीं उठा सकतीं। ऐसे व्यक्ति जो निजी लाभ के लिए अप्राधिकृत रूप से शिक्षण संस्थायें चला रहे हैं, अनुच्छेद 21 क के अधीन संरक्षण का कलेम नहीं कर सकते।

B.A.LL.B. 8th Sem. Paper-V Criminal Procedure code-II Juvenile Justice Act and Probation of Offenders Act

प्रश्न न० 1— आरोप को परिभाषित कीजिए। आरोप के अन्तर्वस्तु क्या है? क्या आरोप न्यायालय द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— आरोप शब्द एक सामान्य जीवन से संबंधित शब्द है। हम इसे कई दफा दोहराते हैं, यह आम बातचीत का हिस्सा होता है। कानूनी क्षेत्र में आमतौर पर यह समझा जाता है कि पुलिस के समक्ष होने वाली शिकायत आरोप होती है जबकि यह आरोप नहीं है। आरोप अदालत द्वारा लगाए जाते हैं। यह किसी भी मुकदमे का एक स्तर होता है। पुलिस द्वारा अपना अंतिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद ही कोई मुकदमा आरोप हेतु नियत किया जाता है। इसके पश्चात अदालत आरोप तय करती है। इस आलेख में आपराधिक मामलों में आरोप पर चर्चा की जा रही है। आरोप को 'दोषारोपण' भी कहा जाता है। विचारण में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविक रूप से विचारण का प्रारम्भ ही आरोप से ही होता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 2 (ख) में आरोप की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

“आरोप के अन्तर्गत, जब आरोप में एक से अधिक शीर्ष हो, आरोप का कोई भी शीर्ष है।” दंड प्रक्रिया संहिता में आरोप की केवल इतनी ही परिभाषा दी गई है लेकिन यह आरोप की शाब्दिक परिभाषा नहीं है। आरोप को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है आरोप अभियुक्त के विरुद्ध अपराध की जानकारी का ऐसा लिखित कथन होता है जिसमें आरोप के आधारों के साथ-साथ समय, स्थान, व्यक्ति एवं वस्तु का भी उल्लेख रहता है, जिसके बारे में अपराध किया गया है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अभियुक्त द्वारा किये गये अपराध का विवरण ही आरोप है। आरोप की विरचना इसलिये की जाती है ताकि अभियुक्त को यह पता चल जाये कि— उस पर क्या आरोप है, और उसे किस प्रकार अपनी प्रतिकक्षा करनी है। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 211 से 224 तक में आरोप के बारे में प्रावधान किया गया है।

आरोप की अन्तर्वस्तुयें— यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संहिता की धारा 211, 212 एवं 213 में उन बातों का उल्लेख किया गया है जिनका समावेश आरोप में किया जाना अपेक्षित है।

आरोप में निम्नांकित बातों का उल्लेख है—

- (1) उस अपराध का नाम जिसका अभियुक्त पर आरोप है,
- (2) वह विधि जिसके अन्तर्गत ऐसा अपराध आता है, एवं अपराध का नाम
- (3) अपराध की संक्षिप्त परिभाषा, यदि विधि में उसे कोई नाम नहीं दिया गया है,
- (4) अपराध से सम्बन्धित धारा, (धारा 211)
- (5) अपराध कारित किये जाने का समय,
- (6) अपराध कारित किये जाने का स्थान,
- (7) वह व्यक्ति या वस्तु जिसके विरुद्ध अपराध कारित किया गया है, (धारा 212) एवं
- (8) अपराध कारित किये जाने की रीति (धारा 213)

इस प्रकार आरोप में उन सभी बातों का उल्लेख किया जाना अपेक्षित जिससे अभियुक्त को यह भली-भाँति ज्ञात हो जाये कि उस पर क्या आरोप अर्थात् दोषारोपण है।

आरोप के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण बातें आरोप के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

- (1) आरोप न्यायालय की भाषा में लिखा जाना चाहिये।
- (2) आरोप 'संक्षिप्त' में होना चाहिये। उसमें घटना का समय, स्थान, व्यक्ति एवं वस्तु आदि का संक्षिप्त में उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (3) आवश्यक होने पर अपराध कारित किये जाने की रीति का उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (4) यदि अभियुक्त पर विधि विरुद्ध जमाव का सदस्य होने का आरोप है तो उसमें इसामान्य उद्देश्य होने का उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (5) यदि आरोप मानहानि का है तो उसमें उन 'शब्दों' का उल्लेख किया जाना चाहिये जो हानिकारक हैं।
- (6) यदि मामला संरक्षकता में से अवयस्क लड़की के अपहरण का है तो आरोप में लड़की की श्रायुष का विवरण दिया जाना चाहिये।

आरोप में परिवर्तन— न्यायालय द्वारा आरोप में कभी भी परिवर्तन या परिवर्धन किया जा सकेगा। इसका उल्लेख धारा 216 में है। धारा 217 के अनुसार जब आरोप में परिवर्तन या परिवर्धन किया जाता है तब उन साक्षियों को परीक्षण हेतु पुनः बुलाया जा सकेगा जिनका परीक्षण हो चुका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आरोप की विरचना

नहीं किये जाने अथवा आरोप में कोई त्रुटि रह जाने मात्र से विचारण स्वतः दूषित नहीं हो जाता। यह सब मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पृथक् अपराध का पृथक् आरोप सामान्य नियम यह है—

प्रत्येक सुभिन्न अपराध के लिए जिसका किसी व्यक्ति पर अभियोग है, पृथक् आरोप होगा और ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण अलग किया जायेगा। स्पष्ट है कि धारा 218 के अनुसार प्रत्येक सुभिन्न अपराध का पृथक् आरोप एवं विचारण होगा। इसका उल्लंघन निवारण योग्य नहीं है।

अपवाद— लेकिन धारा 218 के कुछ अपवाद भी हैं, यथा

(1) एक ही वर्ष में किये गये एक ही किस्म के तीन अपराधों का आरोप एक साथ लगाया जा सकेगा। इसका उल्लेख धारा 219 में है।

उदाहरणार्थ— दो माह के अन्तराल से जारी किये गये चौकों के अनादरण के आरोप एक साथ लगाए जाकर उनका एक साथ विचारण किया जा सकेगा। लेकिन एक मामले में यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न तारीखों पर जारी तीन चौकों के अनादरण का आरोप एक साथ नहीं लगाया जा सकेगा क्योंकि वे एक ही संव्यवहार के भाग नहीं हैं।

(2) धारा 220 के अनुसार एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही संव्यवहार बनाने वाले एकाधिक अपराधों का आरोप एक साथ लगाया जा सकेगा तथा एक साथ विचारण किया जा सकेगा।

उदाहरणार्थ अभियुक्त पर भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 एवं आयुध अधिनियम की — धारा 27 (3) के आरोप एक साथ लगाये जा सकेंगे और उनका एक साथ विचारण किया जा सकेगा।

(3) धारा 223 के अनुसार उन सभी व्यक्तियों पर एक साथ आरोप लगाया जा सकेगा जिन पर एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किये गये एक ही अपराध का अभियोग है।

(4) मुख्य अपराध के साथ शृङ्खलण एवं श्रयत्नश के आरोप एक साथ लगाये जा सकेंगे।

आरोप की विरचना करने का कार्य हालांकि न्यायालय का है हालांकि अधिवक्ता को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आरोप की विरचना समुचित रूप से की गई है अथवा नहीं।

प्रश्न न० 2— प्रत्येक भिन्न अपराध के लिए जिसका किसी व्यक्ति पर अभियोग है पृथक् आरोप होगा और ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण पृथक् किया जायेगा। वर्णन कीजिए।

उत्तर— यह प्रावधान कहता है कि, प्रत्येक पृथक् अपराध के लिए पृथक् आरोप होगा और प्रत्येक ऐसे आरोप पर पृथक् रूप से विचारण किया जाएगा।

प्रावधान— अभियुक्त द्वारा न्यायालय को लिखित आवेदन दिए जाने पर, यदि मजिस्ट्रेट की राय में इससे कोई पक्षपात नहीं होगा, तो वह अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए सभी या किसी भी आरोप पर एक साथ विचारण कर सकता है। धारा-218(2) धारा 218(1) में निहित सामान्य नियम का अपवाद है। यह उपधारा कहती है कि “उपधारा (1) में कुछ भी धारा 219, 220, 221 और 223 के प्रावधानों के संचालन को प्रभावित नहीं करेगा।”

अपवाद 1— एक वर्ष के भीतर एक ही तरह के तीन अपराध किए जाने पर एक साथ आरोप लगाए जा सकते हैं यह धारा इसलिए बनाई गई है ताकि जब अपराध एक ही तरह के हों तो कार्यवाही की बहुलता से बचा जा सके। इसमें दो परिस्थितियाँ हैं—

1. धारा 219(1) के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति पर एक ही तरह के तीन अपराधों का आरोप लगाया गया है, तो उस व्यक्ति पर सभी अपराधों के लिए एक साथ मुकदमा चलाया जा सकता है, यदि वे पहले अपराध से लेकर अंतिम अपराध तक बारह महीने की अवधि के भीतर किए गए हों।

2. धारा 219(2) उन अपराधों के बारे में बात करती है जो एक ही तरह के हैं, और एक ही सजा के साथ दंडनीय भी हैं।

अपवाद 2— ऐसे अपराध जो एक ही लेन-देन के दौरान किए गए हों और उन पर एक साथ मुकदमा चलाया गया हो। इसमें निम्नलिखित शामिल हैं—

1. यदि किसी व्यक्ति ने कई ऐसे कार्य किए हैं जो एक-दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं कि वे एक ही लेन-देन बनाते हैं, तो ऐसे अपराधों पर एक साथ आरोप लगाए जाएंगे और उन पर एक साथ मुकदमा चलाया जाएगा। संहिता के तहत श्लेन-देनशब्द को परिभाषित नहीं किया गया है।

2. आपराधिक विश्वासघात या संपत्ति के बेईमानी से दुरुपयोग तथा खातों में हेराफेरी के उनके सहवर्ती अपराधों के मामले में। कई बार आपराधिक विश्वासघात या संपत्ति के बेईमानी से दुरुपयोग के अपराध खातों में हेराफेरी आदि जैसे अपराधों के साथ-साथ किए जाते हैं, तथा बाद वाला अपराध पहले अपराध के उद्देश्य को पूरा करने के लिए किया जाता है। ऐसे मामलों में, धारा 220(2) न्यायालयों को ऐसे अपराधों पर एक साथ विचारण करने का अधिकार देती है।

3. यदि कोई एक ही कृत्य अपराधों की अलग-अलग और पृथक् परिभाषाओं के अंतर्गत आता है, तो ऐसे विभिन्न अपराधों पर धारा 220(3) के तहत उल्लिखित अनुसार एक साथ विचारण किया जाएगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति X किसी व्यक्ति Y पर बेंत से गलत तरीके से प्रहार करता है, तो X पर भारतीय दंड संहिता की धारा 352 और धारा 323 के तहत अलग-अलग आरोप लगाए जा सकते हैं और उन पर अलग-अलग विचारण किया जा सकता है या फिर उन पर एक साथ विचारण करके दोषसिद्धि की जा सकती है।

4. यदि अपराध बनाने वाले कार्य, अलग-अलग लिए जाने और विचारण किए जाने पर या समूहों में लिए जाने पर अलग-अलग अपराध भी बनते हैं, तो ऐसे अपराधों को एक ही विचारण में एक ही अपराध के रूप में माना जाएगा। उदाहरण के लिए— यदि A, B पर डकैती का अपराध करता है, और ऐसा करते समय वह स्वेच्छा से B को चोट पहुँचाता है, तो । पर भारतीय दंड संहिता की धारा 323, 392 और 394 के अंतर्गत उल्लिखित अपराधों के लिए अलग से आरोप लगाया जा सकता है और उसे दोषी ठहराया जा सकता है।

अपवाद 3— धारा 221 उन मामलों के लिए प्रावधान करती है, जिनमें अपराध के दौरान घटित परिस्थितियों और घटनाओं से संबंधित कुछ संदेह होता है। इस धारा के अनुसार, यदि अभियुक्त ने कई ऐसे कार्य किए हैं, जिनसे तथ्यों को साबित करने के बारे में भ्रम पैदा होता है, तो अभियुक्त पर ऐसे किसी भी अपराध या सभी के लिए आरोप लगाया जा सकता है या वैकल्पिक अपराधों के लिए आरोप लगाया जा सकता है। ऐसे मामलों में, अभियुक्त पर एक अपराध के लिए आरोप लगाया जाता है और साक्ष्य के चरण के दौरान, यदि यह साबित हो जाता है कि उसने कोई अलग अपराध किया है, तो उसे उसी के लिए दोषी ठहराया जा सकता है, भले ही उस पर उसी के लिए आरोप न लगाया गया हो।

अपवाद 4— धारा 223 उन व्यक्तियों के वर्ग के बारे में बात करती है, जिन पर संयुक्त रूप से मुकदमा चलाया जा सकता है। यह धारा निर्दिष्ट परिस्थितियों में कई व्यक्तियों के संयुक्त परीक्षण की अनुमति देती है, क्योंकि किए गए विभिन्न अपराधों के बीच कुछ संबंध मौजूद होते हैं। विभिन्न वर्गों को परस्पर अनन्य नहीं माना जाएगा और यदि आवश्यक हो तो उन्हें एक साथ जोड़ा जा सकता है। इस धारा के अनुसार, व्यक्तियों के निम्नलिखित वर्गों पर एक साथ मुकदमा चलाया जा सकता है और उन पर आरोप लगाया जा सकता है—

1. वे आरोपी व्यक्ति जिन्होंने एक ही लेन-देन के दौरान एक ही अपराध किया है।
2. वे व्यक्ति जिन्होंने एक विशेष अपराध किया है और वे जिन्होंने अपराध करने के लिए उकसाया है।
3. वे व्यक्ति जो धारा 219 के दायरे में आते हैं।
4. वे व्यक्ति जिन्होंने एक ही लेन-देन के दौरान अलग-अलग अपराध किए हैं।
5. वे व्यक्ति जिन्होंने चोरी, जबरन वसूली, धोखाधड़ी या संपत्ति के आपराधिक दुरुपयोग जैसे अपराध किए हैं, साथ ही वे व्यक्ति जिन्होंने ऐसी संपत्ति प्राप्त की है, उसे अपने पास रखा है, उसके निपटान या छिपाने में सहायता की है, जिसका कब्जा अवैध है और जिसके अवैध होने का आरोप लगाया गया है।
6. वे व्यक्ति जिन पर भारतीय दंड संहिता की धारा 411 और धारा 414 के तहत या चोरी की गई संपत्ति के संबंध में उन धाराओं के तहत अपराध करने का आरोप लगाया गया है, जिसका कब्जा पहले ही किसी अन्य अपराध द्वारा स्थानांतरित किया जा चुका है।
7. वे व्यक्ति जिन पर भारतीय दंड संहिता के अध्याय ग् के तहत नकली सिक्कों से संबंधित किसी अपराध का आरोप लगाया गया है।

जिन अभियुक्तों के मामले धारा 223 के किसी भी वर्ग के अंतर्गत नहीं आते हैं, वे स्वयं संयुक्त सुनवाई का दावा नहीं कर सकते। इस धारा का प्रावधान न्यायालय की विवेकाधीन शक्ति पर अंकुश लगाता है। धारा 218 से धारा 223 तक के नियम अभियुक्तों के लाभ के लिए बनाए गए हैं। विभिन्न वर्गों की धाराओं को परस्पर अनन्य मानने की आवश्यकता नहीं है। न्यायालयों को दो से अधिक धाराओं के प्रावधानों को संयोजित करने का अधिकार दिया गया है। आंशिक रूप से एक धारा को लागू करके और आंशिक रूप से दूसरी धारा को लागू करके कई व्यक्तियों का संयुक्त परीक्षण भी अधिकृत किया गया है।

प्रश्न न0 3— मजिस्ट्रेट द्वारा समन मामलों के विचारण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर— समन-मामलों में सुनवाई की प्रक्रिया—

अपराध के विवरण की व्याख्या— धारा 251 में प्रावधान है कि आरोप तय करना अनिवार्य नहीं है, लेकिन जब अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष लाया जाता है या पेश किया जाता है, तो धारा अपराध के विवरण की व्याख्या करने से नहीं चूकती। ऐसा अभियुक्त को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोपों के प्रति सजग बनाने के लिए किया जाता है। यदि मामले में विवरण बताने में असमर्थ है, तो इससे मुकदमे की कार्यवाही प्रभावित नहीं होगी और इससे अभियुक्त के साथ पक्षपात नहीं होगा, क्योंकि यह अनियमितता संहिता की धारा 465 के तहत सुधार योग्य है। धारा 251 के तहत न्यायालय अभियुक्त से पूछेगा कि क्या अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, और दोषी होने की ऐसी दलील पर दोषसिद्धि के लिए धारा 252 और 253 का अनुपालन करना आवश्यक है।

दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि— धारा 252 और 253 में दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि का प्रावधान है। धारा 252 में सामान्य रूप से दोषी होने की दलील दी गई है और धारा 253 में छोटे मामलों में दोषी होने की दलील दी गई है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, तो उत्तर सकारात्मक होने पर कानून के अनुसार न्यायालय अभियुक्त के सटीक शब्दों में दलील दर्ज करेगा, जिसके आधार पर न्यायालय के विवेक पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जा सकता है। यदि सकारात्मक नहीं है तो न्यायालय को धारा 254 के साथ आगे बढ़ने की आवश्यकता है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, और उसके खिलाफ आरोप कोई अपराध नहीं बनाते हैं तो केवल दलील से अभियुक्त को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। चूंकि मजिस्ट्रेट के पास दलील पर दोषी ठहराने या न ठहराने का विवेक है, यदि दलील पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जाता है तो मजिस्ट्रेट धारा 360 के अनुसार

आगे बढ़ेगा अन्यथा अभियुक्त को सजा के सवाल पर सुनेगा और कानून के अनुसार उसे सजा देगा। यदि दोषी होने की दलील स्वीकार नहीं की जाती है तो मजिस्ट्रेट धारा 254 के अनुसार आगे बढ़ेगा।

यदि अभियुक्त को दलील पर दोषी नहीं ठहराया जाता है तो प्रक्रिया— यदि अभियुक्त को धारा 252 और 253 के तहत दोषसिद्ध नहीं किया जाता है तो धारा 254 अभियोजन और बचाव दोनों के मामले के बारे में प्रावधान करती है।

अभियोजन मामला—मजिस्ट्रेट आरोपी की सुनवाई करेगा और सभी साक्ष्य लेगा। सुनवाई में अभियोजन पक्ष को मामले को बनाने वाले तथ्यों और परिस्थितियों को सामने रखकर और मामले को साबित करने के लिए जिस साक्ष्य पर उसने भरोसा किया था, उसे उजागर करके अपना मामला खोलने का मौका दिया जाएगा। अभियोजन पक्ष के आवेदन पर मजिस्ट्रेट किसी भी गवाह को उपस्थित होने और कोई भी दस्तावेज या चीज पेश करने के लिए समन जारी करेगा। मजिस्ट्रेट धारा 274 के अनुसार साक्ष्य का ज्ञापन तैयार करेगा। समन मामलों में अन्य परीक्षणों की तरह ही मजिस्ट्रेट धारा 279 यानी आरोपी को साक्ष्य की व्याख्या और 280 यानी गवाहों के व्यवहार की रिकॉर्डिंग का अनुपालन करेगा।

बचाव पक्ष की सुनवाई— (बचाव पक्ष मामला)— धारा 254 के तहत अभियोजन पक्ष के साक्ष्य और धारा 313 के तहत बचाव पक्ष की जांच के बाद, इसके जारी रहने पर, न्यायालय धारा 254(1) के तहत बचाव पक्ष की सुनवाई करेगा। बचाव पक्ष की सुनवाई में अभियुक्त से अभियोजन पक्ष के साक्ष्य के खिलाफ अपना पक्ष रखने के लिए कहा जाएगा। किसी भी मामले में अभियुक्त की सुनवाई न होना आपराधिक मुकदमे में मूलभूत त्रुटि के बराबर होगा और इसे धारा 465 के तहत ठीक नहीं किया जा सकता है। अभियुक्त द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य उसी तरह दर्ज किए जाएंगे जैसे धारा 274, 279, 280 के तहत अभियोजन पक्ष के मामले में दर्ज किए जाते हैं। बचाव पक्ष के साक्ष्य प्रस्तुत करने के बाद, उसे धारा 314 के तहत अपनी दलीलें पेश करने की अनुमति दी जाएगी।

दोषमुक्ति या दोषसिद्धि— धारा 254 के तहत साक्ष्य दर्ज करने के बाद यदि मजिस्ट्रेट को लगता है कि आरोपी दोषी नहीं है तो वह उसे बरी कर देगा। यदि आरोपी दोषी है तो मजिस्ट्रेट धारा 360 या 325 के अनुसार कार्यवाही करेगा अन्यथा कानून के अनुसार उसे सजा सुनाएगा।

अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष पेश किया जाना या लाया जाना



अपराध के विवरण का स्पष्टीकरण



दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि की प्रक्रिया जब दलील पर दोषी नहीं ठहराया जाता



बरी करना दोषसिद्धि अभियोजन पक्ष की सुनवाई और साक्ष्य का रिकॉर्ड



बचाव पक्ष की सुनवाई और साक्ष्य का अभिलेख



धारा 314 के अंतर्गत तर्क प्रस्तुत करना



दोषमुक्तिःदोषसिद्धि

शिकायतकर्ता की अनुपस्थिति या मृत्यु— धारा 256 के अनुसार, अभियुक्त की उपस्थिति के लिए निर्धारित तिथि पर शिकायतकर्ता की अनुपस्थिति न्यायालय को अभियुक्त को बरी करने का अधिकार देगी, जब तक कि न्यायालय के पास मामले को किसी अन्य दिन के लिए स्थगित करने का कारण न हो। धारा 256(1) शिकायतकर्ता की मृत्यु के मामले में भी लागू होती है। यदि मृत शिकायतकर्ता का प्रतिनिधि 15 दिनों तक उस स्थान पर उपस्थित नहीं होता है, जहां प्रतिवादी उपस्थित हुआ था, तो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिवादी को बरी किया जा सकता है। ४५,

समन मामलों में निर्वहन- मैं शिकायत के अलावा अन्य मामलों में संस्थित मामलों को समन करता हूँ। धारा 258 प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की पूर्व स्वीकृति के साथ किसी भी चरण में कार्यवाही रोकने के लिए अधिकृत करती है। इसलिए यदि वह श्साक्ष के अभिलेख के पश्चातर् कार्यवाही रोक देता है तो यह दोषमुक्ति का निर्णय सुनाया जाता है, और यदि श्साक्ष के अभिलेख से पहलेर् कार्यवाही रोक दी जाती है तो उसे मुक्त कर दिया जाता है जिसका प्रभाव उन्मुक्ति के समान होता है। यह विवादास्पद है कि शिकायत पर शुरू किए गए समन मामले में मजिस्ट्रेट के पास मामले को खत्म करने का कोई अधिकार नहीं है, भले ही उसके पास आरोपी के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त आधार न हो। ऐसा इसलिए है क्योंकि अगर मजिस्ट्रेट ऐसा करता है तो वह अपना ही आदेश वापस ले लेगा। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि प्रक्रिया जारी करना मजिस्ट्रेट का अंतरिम आदेश है, फैसला नहीं, इसलिए इसे वापस लिया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में मजिस्ट्रेट को मामला खत्म करने का अधिकार देने के लिए किसी प्रावधान की आवश्यकता नहीं है खू, । शिकायत पर शुरू किए गए समन मामलों में मजिस्ट्रेट प्रक्रिया जारी करने के आदेश को खारिज, समीक्षा और वापस नहीं ले सकते। मामले को खत्म नहीं किया जा सकता है, ट्रायल कोर्ट को सुनवाई पूरी करनी होती है। ख 6 , समन मामलों में ट्रायल कोर्ट के मजिस्ट्रेट के पास कानून में ऐसे प्रावधान के अभाव में कार्यवाही खत्म करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में कोई व्यक्ति सीआरपीसी की धारा 482 के तहत उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकता है

विश्लेषण-समन मामलों की सुनवाई अन्य सुनवाई प्रक्रियाओं की तुलना में कम औपचारिक होती है, ताकि त्वरित उपचार हो सके। इसलिए धारा 258, जो मजिस्ट्रेट को पर्याप्त आधार के अभाव में भी मामले को छोड़ने का अधिकार नहीं देती, किसी तरह से अभियुक्त के प्रति पक्षपातपूर्ण है। केएम मैथ्यू मामले में न्यायालय की राय थी कि यदि अभियुक्त के खिलाफ आरोप किसी अपराध के किए जाने को साबित नहीं करते हैं तो मजिस्ट्रेट के पास मामले को छोड़ने का निहित अधिकार है। विभिन्न न्यायिक घोषणाओं में इसने असहमति जताई है। अरविंद केजरीवाल मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि कानून मजिस्ट्रेट को धारा 258 के तहत मामले को छोड़ने के संबंध में विशेष रूप से सशक्त नहीं बनाता है और मामले को धारा 482 के तहत निपटाने के लिए उच्च न्यायालय को सौंप दिया। लेकिन इस बिंदु पर विचार करने की आवश्यकता है कि उच्च न्यायालय को भी मामले को फिर से देखने की आवश्यकता है ताकि पता लगाया जा सके कि अभियुक्त के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए कोई पर्याप्त आधार है या नहीं, यह सब समन मामले के मुख्य उद्देश्य यानी त्वरित सुनवाई में बाधा डालेगा। यद्यपि यह मामला विभिन्न मामलों में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उठाया गया था, लेकिन ऐसी परिस्थितियों में निष्पक्ष सुनवाई और अभियुक्त के अधिकारों को खतरे में डालने से बचाने के लिए इसकी पुनः जांच की जानी चाहिए।

प्रश्न न0 4- पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर- पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित मामले में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 244 से 247 तथा 248 से 250 पुलिस रिपोर्ट पर संस्थित मामले में विचारण की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस प्रकार के मामले मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय होते हैं। इनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है-

धारा 244 अभियोजन का साक्ष्य- धारा 244 में कहा गया है कि पुलिस रिपोर्ट के अलावा किसी अन्य तरीके से शुरू किए गए वारंट मामलों में और सीधे मजिस्ट्रेट के पास दायर किए गए मामलों में, आरोपी को मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाता है, जो अभियोजन पक्ष द्वारा नामित गवाहों को बुलाकर और पेश किए गए सभी सबूतों को लेकर सुनवाई की प्रक्रिया शुरू करता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 138 के तहत सभी सबूतों पर विचार किया जाना चाहिए और मजिस्ट्रेट द्वारा रिकॉर्ड में दर्ज किया जाना चाहिए।

धारा 245- सीआरपीसी की धारा 245 में कहा गया है कि यदि अभियोजन पक्ष द्वारा अभियुक्त के खिलाफ कोई मामला नहीं बनाया गया है, तो मजिस्ट्रेट द्वारा अभियुक्त को बरी कर दिया जाएगा, जिसे चुनौती न दिए जाने पर उसे दोषी ठहराया जा सकता है। और यदि अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत आरोपों को मजिस्ट्रेट द्वारा निराधार माना जाता है, तो मजिस्ट्रेट को किसी भी पिछले चरण में अभियुक्त को बरी करने से कोई नहीं रोक सकता है।

धारा 246 प्रक्रिया जहाँ अभियुक्त उन्मोचित नहीं किया जाता- क बार जब अभियोजन पक्ष द्वारा मजिस्ट्रेट के समक्ष सभी साक्ष्य प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और उनके द्वारा उक्त साक्ष्य की जांच कर ली जाती है, तो मजिस्ट्रेट की राय होती है कि शिकायत में उल्लिखित आरोपों के लिए उचित आधार मौजूद है और आरोपी अपराध करने में सक्षम हैय आरोप तय किया जाता है और निष्पक्ष सुनवाई की जाती है। आरोपी को अपना बचाव करने का अवसर दिया जाता है। **रतिलाल भानजी मिठानी बनाम महाराष्ट्र राज्य**, 1978 के मामले में, यह निर्धारित किया गया था कि यह मानने के लिए उचित आधार थे कि आरोपी ने अपराध किया है, और मजिस्ट्रेट ने धारा 246(1) के तहत मामले को खारिज करने से इनकार करके मुकदमे की कार्यवाही शुरू की।

धारा 246(2) में कहा गया है कि अभियुक्त के खिलाफ आरोप उसे पढ़कर सुनाया और समझाया जाना चाहिए, और उससे पूछा जाएगा कि क्या वह आरोपों में दोषी होना चाहता है या मुकदमा चलाकर उक्त आरोपों का मुकाबला करना चाहता है। धारा 246(3) अभियुक्त को दोषी होने की दलील देने और न्यायालय के समक्ष खुद को प्रस्तुत करने का अवसर देती है। मजिस्ट्रेट के पास दोषी होने की दलील दर्ज करने, अभियुक्त को दोषी ठहराने और उसे उचित समझकर दंडित करने का अधिकार है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील नहीं देता है, तो बाद में सुनवाई की जाएगी और अभियुक्त को निष्पक्ष सुनवाई दी जाएगी। मजिस्ट्रेट लिखित रूप में बता सकता है कि वह किसी

गवाह को जिरह के लिए वापस बुलाने के लिए किन कारणों को उचित समझता है और यदि ऐसा है, तो अभियोजन पक्ष के कौन से गवाह हैं, जिनके साक्ष्य दर्ज किए गए हैं। वही कारण दर्ज किए जाते हैं और अभियोजन पक्ष के गवाहों को मजिस्ट्रेट द्वारा जिरह के लिए वापस बुलाया जाता है। धारा 246 के तहत उपधारा (5) और (6) अभियुक्त को अभियुक्त द्वारा नामित किसी भी गवाह को वापस बुलाने और जिरह या पुनः परीक्षा करने का अधिकार देती है, जिसके बाद उन्हें बरी कर दिया जाता है। अभियोजन पक्ष द्वारा उपलब्ध कराए गए शेष गवाहों के साक्ष्य लिए जाते हैं और उन्हें आवश्यकतानुसार जिरह और पुनः परीक्षा के बाद बरी कर दिया जाता है। इसका अनुप्रयोग वरिसाई रोथर और अन्य बनाम अज्ञात, 1922 के मामले में देखा जा सकता है।

धारा 248— धारा 248 में कहा गया है कि मजिस्ट्रेट द्वारा साक्ष्य की जांच करने के बाद निर्णय लेने के बाद, निर्णय सुनाया जाता है। यदि अभियुक्त दोषी नहीं पाया जाता है, तो मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 248(1) के तहत बरी करने का आदेश दर्ज किया जाएगा। यदि अभियुक्त दोषी पाया जाता है, तो मजिस्ट्रेट अभियुक्त की सुनवाई के बाद उसे सजा सुनाएगा, यदि वह धारा 325 या धारा 360 के प्रावधानों के अनुसार आगे नहीं बढ़ता है। और दोषसिद्धि का यह आदेश धारा 248(2) के तहत दर्ज किया जाएगा। से मामले में जहां धारा 211(7) के प्रावधानों के तहत पहले से दोषसिद्धि है, और अभियुक्त यह स्वीकार नहीं करता है कि उसे पहले भी आरोप के अनुसार दोषी ठहराया जा चुका है मजिस्ट्रेट अभियुक्त की दोषसिद्धि के बाद कथित पिछली दोषसिद्धि के संबंध में साक्ष्य एकत्र कर सकता है और उस निष्कर्ष को दर्ज कर सकता है। हालांकि, मजिस्ट्रेट द्वारा कोई आरोप नहीं पढ़ा जाएगा, अभियुक्त को दलील देने के लिए नहीं कहा जाएगा और अभियोजन पक्ष द्वारा पिछली दोषसिद्धि का उल्लेख नहीं किया जाएगा या उसके द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जाएगा जब तक कि अभियुक्त को धारा 248(2) के तहत दोषी नहीं ठहराया गया हो।

धारा 250 उचित कारण के बिनस अभियोग के लिए प्रतिकर— धारा 250 में उन मामलों से संबंधित प्रक्रिया पर चर्चा की गई है, जहां मजिस्ट्रेट या पुलिस अधिकारी को शिकायत करने पर मामला दर्ज किया जाता है और मजिस्ट्रेट पाता है कि आरोपी व्यक्ति के खिलाफ कोई आधार नहीं है। आरोपी को तुरंत बरी कर दिया जाएगा। शिकायतकर्ता को अपनी शिकायत को उचित ठहराने और यह बताने के लिए बुलाया जाएगा कि उसे उस व्यक्ति को मुआवजा क्यों नहीं देना चाहिए, जिसके खिलाफ शिकायत की गई थी। मजिस्ट्रेट तब आरोपी को जुर्माने की राशि से अधिक नहीं एक निश्चित राशि का मुआवजा देने का आदेश देगा, यदि वह संतुष्ट हो जाता है कि शिकायत दर्ज करने के कारण निराधार हैं और उनमें कोई आधार नहीं है।

यदि एक से अधिक आरोपी व्यक्ति हैं, तो मजिस्ट्रेट शिकायतकर्ता को सभी आरोपियों को मुआवजा देने का आदेश देगा। इसे वल्ली मिथा बनाम अज्ञात, 1919 के मामले में देखा जा सकता है।

अब्दुर रहीम बनाम सैयद अबू मोहम्मद बरकत अली शाह, 1927 के मामले में, न्यायालय ने घोषित किया था कि मुआवजे की राशि केवल आरोपी को दी जाएगी, उसके रिश्तेदारों या किसी अन्य व्यक्ति को नहीं।

शिकायतकर्ता द्वारा क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान न करने पर उसे 30 दिन से अधिक की साधारण कारावास की सजा नहीं होगी। यदि व्यक्ति पहले से ही कारावास में है तो भारतीय दंड संहिता की धारा 68 और 69 लागू होगी। तथा जिस व्यक्ति को क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान करने का निर्देश दिया गया है, उसे शिकायत के संबंध में किसी भी आपराधिक या सिविल दायित्व से छूट दी जाएगी। धारा 250(6) में कहा गया है कि द्वितीय श्रेणी मजिस्ट्रेट द्वारा उपधारा (2) के अंतर्गत सौ रुपए से अधिक क्षतिपूर्ति का भुगतान करने का आदेश दिए जाने पर शिकायतकर्ता या मुखबिर के विरुद्ध अपील की जा सकती है, जैसा कि **ए.एम. परेशा बनाम डी.पी. डेमेलो, 1924** के मामले में देखा गया है। अपील की अवधि समाप्त होने से पहले या न्यायालय द्वारा अपील का निर्णय दिए जाने के बाद क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान नहीं किया जाएगा। तथा ऐसे मामलों में जहां अपील से कोई संबंध नहीं है, राशि का भुगतान आदेश पारित होने की तिथि से एक माह बाद किया जाएगा।

प्रश्न न० 5— अपील न्यायालय की शक्तियां बताइए। क्या अपील न्यायालय अतिरिक्त साक्ष्य ले सकता है?

उत्तर— दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत अपील न्यायालय की शक्तियाँ प्राप्त हैं—

(1) धारा 386 के अन्तर्गत अपील न्यायालय की शक्तियाँ— संहिता की धारा 386 के अनुसार यदि न्यायालय अभिलेख का परिशीलन करने तथा अपीलार्थी एवं लोक अभियोजक को सुनने के पश्चात् उसका विचार है कि अपील में हस्तक्षेप करने का आधार नहीं तो वह अपील को खारिज कर सकता है।

(क) दोष मुक्त के विरुद्ध अपील किये जाने पर — अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को उलट सकता है और अतिरिक्त जाँच किये जाने का निदेश दे सकता है या विचारण के लिए सुपुर्द करने का आदेश दे सकता है।

(ख) दोषसिद्ध के विरुद्ध अपील की दशा में — (1) निष्कर्ष एवं दण्डादेश को उलट सकता है और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित कर सकता है या मामले के पुनः विचारण का या विचारार्थ सुपुर्द किये जाने का आदेश दे सकता है।

(2) दण्डादेश का कायम रखते हुए निष्कर्ष में परिवर्तन कर सकता है।

(3) निष्कर्ष में परिवर्तन करके या किए बिना दण्ड के स्वरूप या परिणाम में परिवर्तन कर सकता है किन्तु इस प्रकार नहीं की दण्ड वृद्धि हो जाये।

(ग) दण्डादेश की वृद्धि के लिये अपील में—(1) अभियोजन पक्ष या परिवादी जब आरंभिक न्यायालय द्वारा किए गए विचारण के पश्चात् अभियुक्त के दोष सिद्ध होने के बाद आरंभिक न्यायालय द्वारा दिए गए दंड से आहत होता है

तथा दंड में वृद्धि के लिए जब अपील की जाती है तो यहां पर अपीलीय न्यायालय को क्या शक्तियां प्राप्त होती हैं इसका उल्लेख दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386 की उपधारा 2 में किया गया है।

(2) निष्कर्ष आदेश को पलट सकता है और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित कर सकता है सक्षम न्यायालय को अभियुक्त के पुनर्विचार का आदेश दे सकता है।

(3) दंडादेश को यथावत रखते हुए निष्कर्ष में परिवर्तन कर सकता है।

(4) निष्कर्ष में परिवर्तन करके या किए बिना दंड के स्वरूप अथवा परिमाण में परिवर्तन कर सकता है जिससे उसमें वृद्धि एवं कमी हो जाए।

(5) यदि अपील किसी अन्य आदेश के विरुद्ध हुई है तो अपीलीय न्यायालय ऐसे आदेश को परिवर्तित कर सकता है या पलट सकता है।

(2) दण्डादेश का निलंबन तथा अपीलार्थी को छोड़ने की शक्ति— दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 389 की उपधारा (3) के अंतर्गत जिस व्यक्ति को दोषसिद्ध किया गया है उस व्यक्ति का उतने समय के लिए दंड का निलंबन किया जा सकता है जितने समय में अपील करने संबंधी एक युक्तियुक्त समय लगता है।

दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को यह अधिकार अधिकार पूर्वक प्राप्त है अर्थात् वह दंड देने वाले न्यायालय से अधिकार की तरह इतनी अवधि के लिए दंड का निलंबन मांग सकता है जितनी युक्तियुक्त अवधि में अपील की जा सके। परंतु दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389(3) के अंतर्गत यह अधिकार दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को 2 शर्तों पर प्राप्त होता है—

(1)— जब ऐसा दोषसिद्ध किया गया व्यक्ति जमानत पर रहते हुए 3 वर्ष तक की अवधि के लिए कारावास से दंडित किया गया है।

(2)— ऐसा दोषसिद्ध किया गया व्यक्ति उस अपराध में दोषसिद्ध किया गया है जो जमानतीय है

यदि न्यायालय इस प्रकार के प्रकरण में दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को जमानत पर छोड़ दिए जाने से इंकार करता है तो ऐसा इंकार करने के विशेष कारणों का उसे उल्लेख करना होगा कि ऐसा दोषसिद्ध (Convicted) किया गया व्यक्ति जमानत पर क्यों नहीं छोड़ा जा सकता और उसका दंडादेश निलंबित क्यों नहीं किया जा सकता।

कश्मीरा सिंह बनाम पंजाब राज्य 1977 सुप्रीम कोर्ट 2147 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि आजीवन कारावास से दंडित अभियुक्त को जमानत पर छोड़े जाने की नीति पर गंभीरता से पुनः विचार किया जाना चाहिए क्योंकि अपील के निपटारे में अत्यधिक विलंब अपीलार्थी के लिए अहितकर होता है। यह भी अपीलार्थी को उच्चतम न्यायालय में अपील की विशेष अनुमति मंजूर की है तो साधारणतः उसे जमानत पर छोड़ा जाना चाहिए।

(3) दोषमुक्ति की दशा में अभियुक्त को गिरफ्तार करने का आदेश देने की शक्ति— यदि दोषमुक्ति का ऐसा आदेश किसी शिकायत पर संस्थित किसी मामले में पारित किया जाता है और उच्च न्यायालय, इस संबंध में शिकायतकर्ता द्वारा किए गए आवेदन पर, दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध अपील करने की विशेष इजाजत देता है, तो शिकायतकर्ता ऐसी अपील उच्च न्यायालय में प्रस्तुत कर सकेगा।

अपील न्यायालय द्वारा अतिरिक्त साक्ष्य लिया जाना— आम तौर पर, अपील की अदालत अतिरिक्त साक्ष्य नहीं लेती और न ही गवाहों की सुनवाई करती है। हालांकि, कुछ मामलों में, अपील न्यायालय को असाधारण परिस्थितियों में अतिरिक्त साक्ष्य लेने का अधिकार होता है। इसके लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 नियम 27 के तहत निर्धारित शर्तों का पूरा होना जरूरी है। **भगवान दास मामले में** न्यायालय ने कहा कि अतिरिक्त साक्ष्य को अपील स्तर पर तभी स्वीकार अगर अतिरिक्त साक्ष्य सेशन कोर्ट या मजिस्ट्रेट ने लिया है, तो वह उसे अपील कोर्ट को प्रमाणित करेगा। इसके बाद, अपील कोर्ट आगे बढ़कर उसका निपटारा कर सकता है। अतिरिक्त साक्ष्य लिए जाने पर, अभियुक्त या उसके वकील को भी मौजूद रहने का अधिकार होता है। अगर अपील कोर्ट अतिरिक्त साक्ष्य लेने का फैसला करता है, तो उसे यह भी दर्ज करना होगा कि उसने ऐसा क्यों किया। साथ ही, यह तय करना होगा कि जो अतिरिक्त साक्ष्य मांगा गया है, क्या वह फैसला सुनाने के लिए जरूरी है या नहीं।

प्रश्न न० 6— दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 का उद्देश्य नागरिकों की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करना नहीं, अपितु अविलम्ब शान्ति भंग के खतरे को दूर करना है। व्याख्या कीजिए।

उत्तर— धारा 144 उद्देश्य—दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध किसी मजिस्ट्रेट को यह निर्देश जारी करने की शक्ति प्रदान करती है कि वह व्यक्ति कोई कार्य विशेष न करे या अपने कब्जे की या अपने संरक्षण में की किसी विशिष्ट सम्पत्ति के बारे में कोई उचित व्यवस्था करे ताकि विधिपूर्वक अधिकृत किसी व्यक्ति को कोई बाधा, क्षोभ या क्षति का या मानव जीवन, स्वास्थ्य या क्षेत्र जैसे खतरे का या लोक प्रशांति विक्षुब्ध होने का या बलवे या दंगे का निवारण किया जा सके। धारा 144 के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट द्वारा दिया जाने वाला आदेश न्यायिक या कार्यपालक प्रकृति का है।

उच्चतम न्यायालय ने भी अपने हाल ही के एक निर्णय में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि धारा 144 के अन्तर्गत दिये जाने वाले आदेश का आशय आकस्मिक शान्ति-भंग के खतरे का निवारण करना है। यह न तो स्थायी हो सकता है और अर्द्धस्थायी (आचार्य जगदीश्वरानन्द अवधूत एवं अन्य बनाम कमिश्नर ऑफ पुलिस, कलकत्ता एवं अन्य ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 51)

शान्ति भंग आदि को रोकने के उपचार एवं आदेश—ऐसे मामलों में, जहां जिला मजिस्ट्रेट, सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार द्वारा विशेष रूप से सशक्त किसी अन्य कार्यपालक मजिस्ट्रेट की राय में, इस धारा के अधीन

कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है और तत्काल रोकथाम या शीघ्र उपचार वांछनीय है, ऐसा मजिस्ट्रेट मामले के तात्त्विक तथ्यों को बताते हुए और धारा 134 द्वारा उपबंधित रीति से तामील करते हुए लिखित आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को किसी कार्य से विरत रहने या अपने कब्जे में या अपने प्रबंध के अधीन किसी संपत्ति के संबंध में कोई निश्चित व्यवस्था करने का निर्देश दे सकेगा, यदि ऐसा मजिस्ट्रेट समझता है कि ऐसे निर्देश से विधिपूर्वक नियोजित किसी व्यक्ति को बाधा, कष्ट या चोट पहुंचाने, या मानव जीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा होने, या लोक शांति भंग होने, या दंगा या दंगा होने की संभावना है या रोकने की प्रवृत्ति है। इस धारा के अधीन आदेश, आपातस्थिति में या ऐसे मामलों में जहां परिस्थितियां ऐसी न हों कि उस व्यक्ति को, जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है, नोटिस की समय पर तामील की जा सके, एकपक्षीय रूप से पारित किया जा सकेगा।

इस धारा के अंतर्गत आदेश किसी विशेष व्यक्ति, या किसी विशेष स्थान या क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों, या किसी विशेष स्थान या क्षेत्र में आने-जाने वाले आम जनता के लिए जारी किया जा सकता है। इस धारा के अधीन कोई भी आदेश उसके किए जाने की तिथि से दो मास से अधिक समय तक प्रवृत्त नहीं रहेगा। परन्तु यदि राज्य सरकार मानव जीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने से रोकने के लिए या बलवा किसी दंगे को रोकने के लिए ऐसा करना आवश्यक समझती है तो वह अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकेगी कि इस धारा के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा किया गया आदेश उस तारीख से, जिसको मजिस्ट्रेट द्वारा किया गया आदेश, यदि ऐसा आदेश न होता तो, समाप्त हो जाता, छह मास से अधिक की ऐसी अतिरिक्त अवधि के लिए प्रवृत्त रहेगा, जैसा वह उक्त अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे। कोई भी मजिस्ट्रेट स्वप्रेरणा से या किसी व्यथित व्यक्ति के आवेदन पर इस धारा के अधीन स्वयं या अपने अधीनस्थ किसी मजिस्ट्रेट या अपने पूर्ववर्ती द्वारा दिए गए किसी आदेश को रद्द या परिवर्तित कर सकेगा।

राज्य सरकार स्वप्रेरणा से या किसी व्यथित व्यक्ति के आवेदन पर उपधारा (4) के परन्तुक के अधीन अपने द्वारा पारित किसी आदेश को रद्द या परिवर्तित कर सकेगी। जहां उपधारा (5) या उपधारा (6) के अधीन कोई आवेदन प्राप्त होता है, वहां, यथास्थिति, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार आवेदक को उसके समक्ष व्यक्तिगत रूप से या वकील के माध्यम से उपस्थित होने और आदेश के विरुद्ध कारण बताने का शीघ्र अवसर प्रदान करेगी और यदि, यथास्थिति, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार आवेदन को पूर्णतः या भागतः खारिज कर देती है तो वह ऐसा करने के कारणों को लिखित रूप में अभिलिखित करेगी।

आदेश की तामील—सीआरपीसी की धारा 144 शांति कायम करने या किसी आपात स्थिति से बचने के लिए लगाई जाती है। किसी तरह के सुरक्षा, स्वास्थ्य संबंधित खतरे या दंगे की आशंका हो। धारा-144 जहां लगती है, उस इलाके में पांच या उससे ज्यादा आदमी एक साथ जमा नहीं हो सकते हैं।

आदेश की अवधि—इस धारा के अंतर्गत कोई भी आदेश 2 महीने से अधिक अवधि तक लागू नहीं रह सकता।

राज्य सरकार अपने विवेक के अनुसार वैधता को दो महीने के लिए बढ़ाने का विकल्प चुन सकती है, जिसकी अधिकतम वैधता छह महीने तक बढ़ाई जा सकती है। स्थिति सामान्य होने पर धारा 144 हटाई जा सकती है।

आदेश में परिवर्तन करना या उसे विखण्डित करना—मजिस्ट्रेट अपनी स्वप्रेरण से या किसी व्यक्ति के आवेदन किये जाने पर ऐसे आदेश में परिवर्तन कर सकेगा या उसे विखण्डित कर सकेगा जो उसने स्वयं या किसी अधीनस्थ मजिस्ट्रेट या पूर्ववर्ती मजिस्ट्रेट ने दिया हो।

राज्य सरकार भी अपने द्वारा दिये गये आदेश को अपनी स्वप्रेरण से या किसी व्यक्ति के आवेदन किये जाने पर उसमें परिवर्तन कर सकेगी या उसे विखण्डित कर सकेगी, बशर्ते कि वह उसे छः माह जारी रखना न समझे।

आदेश में परिवर्तन या उसे विखण्डित किये जाने का आवेदन प्राप्त होने पर मजिस्ट्रेट ऐसे व्यक्ति को सुनवाई का शीघ्र अवसर देगा एवं मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार उसके आवेदन कसे अंशतः या पूर्णतः अस्वीकार कर देती है तो ऐसे कारणों को लेखबद्ध किया जायेगा।

धारा 144 और 144 के तहत प्रतिबंध लगाने के लिए एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट की शक्ति जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, आपराधिक प्रक्रिया संहिता एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट को किसी भी गतिविधि को शुरू होने या होने से रोकने के लिए एकतरफा आदेश जारी करने की असाधारण शक्ति प्रदान करती है, जिसके परिणामस्वरूप किसी भी व्यक्ति को, जो वैध रूप से नियोजित है, सार्वजनिक संपत्ति या बड़े पैमाने पर समाज को अधिक नुकसान पहुंचाने का परिणाम है खपप,। यह खंड एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश के लिए प्रदान करता है, जो 2 महीने तक लागू रह सकता है और राज्य सरकार के आदेश से छह महीने तक बढ़ाया जा सकता है, यह भी प्रदान करता है कि इस तरह के आदेश को मजिस्ट्रेट या किसी भी पीड़ित व्यक्ति द्वारा, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार को एक आवेदन के माध्यम से रद्द भी किया जा सकता है, और इस तरह के आवेदन पर पहले विचार किया जाना चाहिए और यदि अधिकारी इसे उचित और उचित समझते हैं, तो अनुरोध के अनुसार कार्य कर सकते हैं। हालांकि, **एम.डी. गुलाम अब्बास एवं अन्य बनाम एम.डी. इब्राहिम एवं अन्य**, (1978) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने एक पुनरीक्षण याचिका में सीआरपीसी की धारा 144 के तहत प्रावधानों पर चर्चा करते हुए यह भी कहा कि इस धारा के तहत आदेश कभी-कभी ऐसे व्यक्ति पर जारी किया जा सकता है जो अपनी संपत्ति पर कोई निश्चित कानूनी कार्य कर रहा हो, लेकिन ऐसा कार्य मानव जीवन और सार्वजनिक शांति के लिए खतरा बन रहा हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति अपने घर की छत से भड़काऊ नारे लगाता है, तो ऐसी स्थिति में आदेश जारी करना उचित होगा। किसी भी कार्यकारी मजिस्ट्रेट द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को खुद को प्रतिबंधित करने या किसी निश्चित कार्य को करने से परहेज करने का निर्देश देने वाला ऐसा आदेश या किसी विशिष्ट क्षेत्र में चार या अधिक लोगों के एकत्र

होने को प्रतिबंधित करना, जहां उस निर्दिष्ट क्षेत्र में सरकार द्वारा यातायात भी प्रतिबंधित है। इस तरह के आदेश के तहत कुछ विशेषताएं हैं जैसे कि जनता की आवाजाही नहीं होना, कोई सार्वजनिक सभा नहीं होना, आदेश वापस लिए जाने तक सभी शैक्षणिक संस्थानों को बंद करना, साथ ही कुछ मामलों में इंटरनेट को अवरुद्ध करना आदि।

हालांकि, यह धारा कार्यकारी मजिस्ट्रेटों को अधिक शक्ति प्रदान करती है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे इसका दुरुपयोग कर सकते हैं, या किसी राजनीतिक दबाव में इस धारा के साथ काम कर सकते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने **गुलाम अब्बास और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1982)** के मामले में कहा कि धारा 144 के तहत शक्ति का प्रयोग मजिस्ट्रेट द्वारा किसी भी पीड़ित के स्थापित अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाना चाहिए, जैसा कि याचिकाकर्ता के मामले में थाय और मजिस्ट्रेट की कार्रवाई गलत करने वाले के प्रति निर्देशित होनी चाहिए न कि गलत करने वाले के प्रति।

प्रश्न न0 7— सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण सम्बन्धी प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर— शुरुआत में, मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान लेता है और उसके बाद धारा 209 के अनुसार, वह मामले को सत्र न्यायालय को सौंप देता है। धारा 190 के तहत मजिस्ट्रेट को शिकायत मिलने पर, पुलिस रिपोर्ट पर, पुलिस अधिकारी के अलावा किसी अन्य व्यक्ति से सूचना मिलने पर या अपने ज्ञान के आधार पर अपराध का संज्ञान लेने का अधिकार है। धारा 193 के अनुसार, सत्र न्यायालय सीधे अपराध का संज्ञान नहीं ले सकता है, लेकिन सत्र न्यायालय को मामले की सुपुर्दगी के बिना अपराध का संज्ञान लेने की अनुमति है, यदि मजिस्ट्रेट मामले को उसे सौंपता है या यदि वह एक विशेष न्यायालय के रूप में कार्य करता है। धारा 207 और धारा 208 के तहत मजिस्ट्रेट को प्रथम सूचना रिपोर्ट, पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा दर्ज किए गए बयान आदि जैसे दस्तावेजों की प्रतियां आरोपी को प्रदान करने की आवश्यकता होती है। धारा 209 के तहत, अगर मजिस्ट्रेट को लगता है कि अपराध केवल सेशन कोर्ट द्वारा ही सुनवाई योग्य है, तो वह मामले को सेशन कोर्ट को सौंप सकता है और सभी दस्तावेज और रिकॉर्ड उसे भेज सकता है और या तो जमानत दे सकता है या आरोपी को हिरासत में ले सकता है और सरकारी वकील को भी सूचित करेगा। सेशन कोर्ट के समक्ष सुनवाई की प्रक्रिया धारा 225 से धारा 237 तक बताई गई है। धारा 225 के अनुसार, सेशन कोर्ट के समक्ष प्रत्येक सुनवाई सरकारी वकील द्वारा संचालित की जाती है।

पक्ष (धारा 225)— सत्र न्यायालय के समक्ष मुकदमे में अभियोजन का संचालन सरकारी वकील द्वारा किया जाएगा। अभियुक्त को अपनी पसंद का वकील नियुक्त करने का अधिकार है। यदि वह बचाव पक्ष के वकील को नियुक्त करने में असमर्थ है, तो न्यायालय राज्य के खर्च पर उसे नियुक्त करता है। मुकदमा शुरू करने से पहले अभियुक्त को पुलिस रिपोर्ट, एफआईआर आदि जैसे दस्तावेजों की प्रतियां प्रदान की जाती हैं।

मामला खोलना (धारा 226)— सरकारी अभियोक्ता अभियुक्त के खिलाफ आरोप का वर्णन करके मामले की शुरुआत करता है। वह संक्षेप में बताता है कि वह किस साक्ष्य के आधार पर अपराध साबित करना चाहता है। अभियोक्ता का कर्तव्य दोषसिद्धि सुनिश्चित करना नहीं है, बल्कि न्यायाधिकरण के समक्ष मामले के तथ्यों को रखना है, जिसका काम न्याय करना है।

अभियुक्त का उन्मोचन (धारा 227)— दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद यदि न्यायालय को लगता है कि आरोपी के खिलाफ कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है, तो वह उसे आरोपमुक्त कर सकता है और ऐसा करने का कारण दर्ज कर सकता है। किसी गवाह से पूछताछ की गुंजाइश नहीं है, लेकिन दोनों पक्षों के पास आरोप तय करने या आरोपमुक्त करने के पक्ष में अपना पक्ष रखने की गुंजाइश है।

आरोप तय करना (धारा 228)— दोनों पक्षों को सुनने के बाद यदि न्यायालय यह मानता है कि अभियुक्त ने अपराध किया होगा तो— यदि अपराध विशेष रूप से सत्र न्यायालय द्वारा विचारणीय है, तो लिखित रूप में आरोप तैयार किया जाता है। यदि अपराध का मुकदमा विशेष रूप से सत्र न्यायालय द्वारा नहीं चलाया जा सकता है तो वह आरोप तय करता है और मामले को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को स्थानांतरित करता है। कांति भद्र शाह एवं अन्य बनाम पश्चिम बंगाल राज्य के मामले में यह माना गया था कि सीआरपीसी की धारा 228 के तहत शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायाधीश को आरोपी के खिलाफ आरोप तय करने के लिए अपने कारणों को दर्ज करने की आवश्यकता नहीं है। आरोप तय करते समय केवल प्रथम दृष्टया मामला देखा जाना होता है। इस स्तर पर न्यायाधीश को यह देखने के लिए आवश्यक विस्तृत आदेश दर्ज करने की आवश्यकता नहीं है कि मामला उचित संदेह से परे है या नहीं, जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय ने भावना बाई बनाम घनश्याम एवं अन्य में माना है।

रुक्मिणी नार्वेकर बनाम विजया सातार्डकर के मामले में न्यायालय ने फैसला दिया था कि आरोपी आरोप तय करने के चरण में कोई सबूत पेश नहीं कर सकता है और आरोप तय करते समय केवल उन सामग्रियों पर ही विचार किया जा सकता है जो धारा 227 में निर्दिष्ट हैं।

आरोप की व्याख्या और दलील के बारे में पूछताछ (धारा 228(2))— आरोप की विषय-वस्तु अभियुक्त को समझाई जानी चाहिए ताकि वह अपराध के लिए दोषी होने की दलील दे सके या मुकदमा चलाने का दावा कर सके। बनवारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में न्यायालय ने माना कि अभियुक्त को आरोप पढ़कर सुनाने या समझाने में चूक से मुकदमा तब तक प्रभावित नहीं होगा जब तक कि यह न दिखाया जाए कि धारा 228 का पालन न करने से अभियुक्त के प्रति पक्षपात हुआ है।

दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि (धारा 229)— यदि अभियुक्त अपना दोष स्वीकार करता है तो न्यायाधीश उसकी दलील को दर्ज करेगा और अपने विवेक से उसे दोषी करार दे सकता है। क्वीन एम्प्रेस बनाम भादू में यह माना गया था कि दोषी होने की दलील स्पष्ट शब्दों में होनी चाहिए अन्यथा ऐसी दलील को दोषी नहीं होने की दलील के बराबर माना जाता है। धारा 229 में कहा गया है कि यदि कोई अभियुक्त अपना दोष स्वीकार करता है तो न्यायाधीश अपने विवेक के अनुसार उसे दोषी ठहराएगा और उसे दर्ज करेगा। न्यायालय दोषी होने की दलील के आधार पर किसी अभियुक्त को दोषी नहीं ठहरा सकता है जहां अपराध ऐसी प्रकृति का है जिसमें सजा मृत्यु या आजीवन कारावास है। हसरुद्दीन मोहम्मद बनाम सम्राट में न्यायालय ने माना कि न्यायालय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को, जिस पर अपराध का आरोप है, उसके दोषी होने की दलील के आधार पर दोषी ठहराना अनिच्छुक होगा, जिसमें सजा मृत्यु या आजीवन कारावास है। यदि अभियुक्त को उसके दोषी होने की दलील के आधार पर दोषी ठहराया जाता है तो अभियुक्त के अपील के अधिकार को धारा 375 द्वारा कम कर दिया जाता है।

अभियोजन साक्ष्य की तारीख (धारा 230)— यदि अभियुक्त दलील देने से इंकार कर देता है या दलील नहीं देता है या दावा करता है कि उस पर मुकदमा चलाया जाएगा या उसे धारा 229 के तहत दोषी नहीं ठहराया गया है, तो न्यायाधीश गवाह की परीक्षा के लिए तारीख तय करेगा या किसी गवाह को अनिवार्य रूप से उपस्थित होने या कोई वस्तु/दस्तावेज पेश करने का आदेश दे सकता है।

अभियोजन पक्ष के लिए साक्ष्य (धारा 231)— उपरोक्त निर्धारित तिथि को न्यायाधीश अभियोजन पक्ष के समर्थन में सभी साक्ष्यों को स्वीकार कर लेगा। न्यायाधीश अपने विवेकानुसार किसी भी गवाह की जिरह को तब तक के लिए टाल सकता है जब तक कि किसी अन्य गवाह की जांच न हो जाए या किसी गवाह को आगे की जिरह के लिए वापस बुला सकता है। राम प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना था कि, यदि न्यायालय को लगता है कि अभियोजन पक्ष ने उचित या तर्कसंगत कारणों से गवाह की जांच नहीं की है, तो न्यायालय अभियोजन पक्ष के प्रतिकूल निष्कर्ष निकालने में न्यायसंगत होगा। केरल राज्य बनाम रशीद में न्यायालय ने देखा कि धारा 231(2) के तहत आवेदन पर निर्णय लेते समय अभियुक्त के अधिकारों और अभियोजन पक्ष के साक्ष्य प्रस्तुत करने के विशेषाधिकार के बीच संतुलन बनाया जाना चाहिए। निम्नलिखित कारणों पर विचार किया जाना चाहिए।

अभियुक्त की जांच—यह शपथ दिलाए बिना किया जाना है। यह उसे अभियोजन पक्ष द्वारा उसके विरुद्ध आरोपित परिस्थितियों को स्पष्ट करने का अवसर देने के लिए है।

बरी (धारा 232)— दोनों पक्षों को सुनने के बाद यदि न्यायाधीश को लगता है कि अभियुक्त ने अपराध नहीं किया है तो वह अभियुक्त को बरी करने का आदेश दर्ज कर सकता है।

बचाव पक्ष में प्रवेश (धारा 233)— यदि अभियुक्त को दोषमुक्त नहीं किया जाता है, तो उसे अपना बचाव प्रस्तुत करने के लिए बुलाया जाएगा। न्यायालय किसी भी स्तर पर किसी भी व्यक्ति को न्यायालय के गवाह के रूप में बुला सकता है या उससे पूछताछ कर सकता है।

तर्क (धारा 234)— बचाव पक्ष की बात दर्ज करने के बाद अभियुक्त अपना मामला संक्षेप में प्रस्तुत करता है और अभियुक्त या उसका वकील जवाब देने का हकदार होता है। बचाव पक्ष द्वारा कोई कानूनी मुद्दा उठाए जाने की स्थिति में अभियुक्त को अपना पक्ष रखने की अनुमति दी जा सकती है।

दोषमुक्ति या दोषसिद्धि का निर्णय (धारा 235)— दोनों पक्षों की दलीलें सुनने के बाद, न्यायालय दोषमुक्ति या दोषसिद्धि का निर्णय सुनाता है। इस बिंदु पर, सांता सिंह बनाम पंजाब राज्य में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि न्यायाधीश को पहले दोषसिद्धि या दोषमुक्ति का फैसला सुनाना चाहिए। यदि अभियुक्त को दोषी ठहराया जाता है, तो उसे सजा के सवाल पर सुना जाएगा और उसके बाद ही न्यायालय उसके खिलाफ सजा सुनाने के लिए आगे बढ़ेगा। बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य में, न्यायालय ने फैसला सुनाया कि यह धारा द्विभाजित सुनवाई का प्रावधान करती है और विशेष रूप से अभियुक्त व्यक्ति को सजा से पहले सुनवाई का अधिकार देती है जो जांच के तहत विशेष अपराध से पूरी तरह से प्रासंगिक या जुड़ा हुआ नहीं हो सकता है लेकिन सजा के विकल्प पर असर डाल सकता है।

धारा 199 की उपधारा (2) के अधीन किसी अपराध का संज्ञान लेने वाला सत्र न्यायालय मजिस्ट्रेट की अदालत के समक्ष पुलिस रिपोर्ट के अलावा अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों के परीक्षण की प्रक्रिया के अनुसार मामले की सुनवाई करेगा। इस धारा के अधीन प्रत्येक विचारण बंद कमरे में किया जाएगा, यदि कोई पक्षकार ऐसा चाहे या न्यायालय ऐसा करना ठीक समझे। यदि किसी ऐसे मामले में न्यायालय सभी या किसी अभियुक्त को उन्मोचित या दोषमुक्त कर देता है और उसकी यह राय है कि उनके या उनमें से किसी के विरुद्ध आरोप लगाने के लिए कोई उचित कारण नहीं था, तो वह उन्मोचित या दोषमुक्त करने के अपने आदेश का परीक्षण कर सकता है, तथा उस व्यक्ति को, जिसके विरुद्ध अपराध किया जाना अभिकथित है, यह निदेश दे सकता है कि वह कारण बताए कि वह ऐसे अभियुक्त को या ऐसे अभियुक्तों में से प्रत्येक को या किसी को, जब एक से अधिक अभियुक्त हों, प्रतिकर क्यों न दे। न्यायालय ऐसे किसी भी कारण को अभिलिखित करेगा तथा उस पर विचार करेगा, जिसे इस प्रकार निर्देशित व्यक्ति द्वारा दर्शाया गया हो, तथा यदि उसका समाधान हो जाता है कि आरोप लगाने के लिए कोई उचित कारण नहीं था, तो वह आदेश दे सकेगा कि उसके द्वारा निर्धारित 1000 रुपये से अनधिक राशि का प्रतिकर, ऐसे व्यक्ति द्वारा अभियुक्त को अथवा उनमें से प्रत्येक को या उनमें से किसी को दिया जाए। उपधारा (4) के अंतर्गत दिया गया मुआवजा इस प्रकार वसूल किया जाएगा मानो वह मजिस्ट्रेट द्वारा लगाया गया जुर्माना हो। उप-धारा (4) के

अंतर्गत प्रतिकर का भुगतान करने के लिए निर्देशित किसी भी व्यक्ति को इस धारा के अंतर्गत की गई शिकायत के संबंध में किसी भी सिविल या आपराधिक दायित्व से छूट नहीं दी जाएगी। वह व्यक्ति जिसे उपधारा (4) के अन्तर्गत प्रतिकर देने का आदेश दिया गया है, उच्च न्यायालय में अपील कर सकता है। जब किसी अभियुक्त व्यक्ति को प्रतिकर के भुगतान का आदेश दिया जाता है, तो अपील प्रस्तुत करने के लिए दी गई अवधि बीत जाने से पहले या यदि अपील प्रस्तुत की जाती है, तो अपील पर निर्णय होने से पहले प्रतिकर का भुगतान नहीं किया जाएगा।

प्रश्न न० 8— उपेक्षित किशोरों के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर— किशोर न्याय अधिनियम से संबंधित पिछले आलेख में इस अधिनियम का सामान्य परिचय तथा इस अधिनियम में दिए गए विशेष शब्दों की परिभाषाओं का अध्ययन किया गया था। इस आलेख के अंतर्गत विधि विरोधी किशोर के संबंध में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया तथा किशोर न्याय बोर्ड के गठन पर चर्चा की जा रही है।

किशोर न्याय बोर्ड— इस अधिनियम की धारा 4 किशोर न्याय बोर्ड से संबंधित धारा है। इस धारा के अंतर्गत किशोर न्याय बोर्ड का गठन किया गया है। इस धारा में विधि-विरोधी कार्यों में लिप्त किशोरों के मामलों में जाँच एवं सुनवाई आदि हेतु किशोर न्याय बोर्ड के गठन तथा इसके सदस्यों की नियुक्ति, उनकी अर्हताएँ एवं पद-च्युति के बारे में भी उपबंध है। बोर्ड में तीन सदस्य होंगे जिनमें से एक महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट, और दो सामाजिक कार्यकर्ता होंगे। बोर्ड के दो सामाजिक कार्यकर्ता सदस्यों में से कम से कम एक महिला होना अनिवार्य है। बोर्ड को दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट यथास्थिति की शक्तियाँ प्रदत्त की गयी हैं। इस धारा की उपधारा (5) में यह उपबंधित है कि (i) राज्य द्वारा किशोर न्याय बोर्ड के किसी भी सदस्य की नियुक्ति को उचित जांच के पश्चात् समाप्त किया जा सकता है, यदि उसने अपनी किसी शक्ति का 4. दुरुपयोग किया होय या (ii) उसे किसी नैतिक अधमता के लिए दोषसिद्ध ठहराया गया हो, और उसे अपराध के लिए क्षमा प्रदान न की गयी हो, या (iii) वह बिना किसी उचित कारण के निरन्तर तीन माह तक बोर्ड की कार्यवाही से अनुपस्थित रहा हो या उसने वर्ष में हुई बोर्ड की कुछ बैठकों के तीन-चौथाई से कम बैठकों में उपस्थिति दर्ज न कराई हो। किशोर न्याय बोर्ड की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विधि विरोधी किशोरों को सुधारने के प्रति यह सुनिश्चित करना भी है कि उनके आपराधिक कृत्यों के विधिक परिणामों का उनके भावी जीवन पर दुष्प्रभाव न पड़े और उनके चरित्र पर लांछन या कलंक न लगने पाये। यही कारण है कि किशोर को अपराधी कहा जाकर श्विधि विरोधी किशोर कहा गया है। इसी प्रकार किसी विधि-विरोधी किशोर को दोषसिद्ध पाये जाने पर उसे दण्डादेश दिये जाने के बजाय दोषसिद्धि पर पारित आदेश दिया जाता है, ताकि वह शकैदी कहलाये जाने के से बच सके।

कर्नाटक राज्य बनाम हर्षद के वाद में उच्च न्यायालय ने विनिश्चित किया कि जहां किशोर न्याय अधिनियम की धारा 4 के अन्तर्गत किशोर न्याय बोर्ड स्थापित किये गये हैं। यहां बोर्ड को विधि का उल्लंघन करने वाले किशोरध्वालकों के विचारण की अनन्य अधिकारिता होगी तथा सेशन न्यायालय या फास्ट ट्रेक न्यायालयों को ऐसे किशोरों के मामलों में विचारण की अधिकारिकता नहीं होगी। इस प्रकरण में चूंकि किशोर न्याय बोर्ड का गठन 27 जुलाई, 2003 की अधिसूचना के अधीन हो चुका था इसलिये सिद्धदोष किशोर को धारा 15 के अन्तर्गत उचित गृह में भेजे जाने का आदेश उचित था क्योंकि उसे दंडित किया जाना अधिनियम के उद्देश्य के विपरीत होगा। किशोर न्याय बोर्ड द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध अपील के अधिकार को अत्यधिक सीमित रखा गया है ताकि विधि-विरुद्ध किशोर को न्यायिक प्रक्रिया के अधीन कम-से-कम समय रहना हो। बोर्ड द्वारा किशोर को निर्दोष पाया जाने पर या यह पाया जाने पर कि वह लावारिश या उपेक्षित नहीं है। इस आदेश के विरुद्ध अपील नहीं हो सकेगी, अर्थात् किशोर न्याय बोर्ड का निर्णय अन्तिम होगा परन्तु बोर्ड द्वारा किशोर को दोषसिद्ध या उपेक्षित घोषित किये जाने के विरुद्ध केवल एक अपील सत्र न्यायालय में हो सकती है, जिसका निर्णय अन्तिम होगा। दूसरे शब्दों में, किशोर के मामले में सत्र न्यायालय का फैसला अन्तिम होगा और इसके विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील का प्रावधान नहीं है।

विधि-विरोधी किशोर के मामले में उच्च न्यायालय को केवल पुनरीक्षण की शक्ति प्राप्त है न कि अपील की। किशोर न्याय नियम, 2007 के नियम 13 (6) (क) में यह उपबन्धित है कि बोर्ड द्वारा किशोर अपराधियों के प्रकरण को एक माह की अवधि में निपटा लिया जाना चाहिये, जो विशिष्ट दशा में दो माह तक हो सकती है।

संप्रेक्षण गृह— इस अधिनियम की धारा 8 में संप्रेक्षण गृह (Observation Home) के बारे में प्रावधान है। संप्रेक्षण गृह में ऐसे विधि विरोधी किशोरों को रखा जाता है जिनके विरुद्ध कोई जाँच लम्बित है। ऐसे संप्रेक्षण गृहों की स्थापना राज्य शासन द्वारा अथवा किसी करार के अन्तर्गत निजी संगठनों द्वारा की जा सकती है।

इनमें किशोर के लिए निवास की सुविधा, भरण-पोषण और चिकित्सा परीक्षण और उपचार की व्यवस्था के साथ-साथ उनके लिए उपयोगी उपजीविका की सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जाती हैं।

संजय प्रसाद यादव बनाम बिहार राज्य के वाद में उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रश्न था कि किसी ऐसे किशोर की जिसकी दोषसिद्धि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन हुई है और जिसे जाँच के दौरान संप्रेक्षण गृह में रखे जाने हेतु आदेशित किया गया था, किशोर-आयु पूर्ण कर लेने के परिणामस्वरूप उसे कारागार में अन्तरित किया जाना आवश्यक है। इस पर उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि किशोर की किशोरावस्था की आयु पूर्ण हो जाने पर भी उसे कारागार या अन्यत्र स्थानान्तरित नहीं किया जाएगा और मामले के अन्तिम फैसले तक उसे संप्रेक्षण गृह में ही रखा जाएगा।

विशेष गृह— धारा 8 में विचाराधीन किशोरों को अस्थायी रूप से रखे जाने हेतु संप्रेक्षण गृहों की व्यवस्था की गयी है जबकि प्रस्तुत धारा 9 में विधि विरोधी किशोरों के लिए विशेष गृह (Special Home) का प्रावधान है। इन विशेष गृहों में अपराध के लिए सिद्धदोष पाये गये किशोरों को उनके सुधार हेतु रखे जाने की व्यवस्था है। इन गृहों में भी आयु, अपराध की प्रकृति और मानसिक तथा शारीरिक हैसियत के आधार पर किशोरों का वर्गीकरण करके उन्हें अलग अलग रखा जाता है जिससे उनकी देखरेख एवं पुनर्वास की व्यवस्था हो सके। यहाँ किशोरों को शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधा भी उपलब्ध करायी जाती है जिससे वह एक सामान्य नागरिक बन सकें।

शीला बरसे बनाम भारत संघ के वाद में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट निर्देश दिये कि किशोर अपराधियों को किसी भी दशा में जेल नहीं भेजा जाना चाहिए तथा उन्हें किशोर न्याय अधिनियम के उपबन्धों का लाभ देकर विशेषगृह या किशोर गृह जैसी किसी अन्य सुधारक संस्था में रखा जाना चाहिए।

हवासिंह बनाम हरियाणा राज्य के वाद में विधि-विरोधी किशोर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन सिद्धदोष पाया जाने के कारण आजीवन कारावास से दण्डित करके पंजाब बोस्टल अधिनियम, 1926 के अन्तर्गत बोस्टल संस्था में भेजा गया। वहाँ 21 वर्ष की आयु पूरी होने के परिणाम स्वरूप उसे शेष सजा भोगने के लिए कारागार में अन्तर्गत कर दिया गया और उसने अगले सात वर्ष जेल में बिताए। उच्चतम न्यायालय ने अपीलार्थी को तत्काल रिहा किये जाने के आदेश देते हुए विनिश्चित किया कि अभियुक्त का विचारण सेशन न्यायालय द्वारा किया गया होने के कारण वह सात वर्ष की अधिकतम निरोध की अवधि पूरा कर चुका है। अतः उसे तत्काल रिहा किया जाए।

बाल अपराधियों पर प्रथम इतिला रिपोर्ट— धारा 11 के अनुसार पुलिस को ऐसे बाल-अपराधियों के विरुद्ध प्रथम इतिला रिपोर्ट रजिस्टर से संकोच करना चाहिये। जिन्होंने सात वर्ष से कम दण्ड से दण्डनीय अपराध किया है और जो गम्भीर प्रकृति का नहीं है। इसके बजाय पुलिस को चाहिये कि ऐसे विधि-विरोधी बालकंधकिशोरों द्वारा कारित अपराध को अपनी सामान्य दैनिक डायरी में अभिलिखित करे।

इसी प्रकार किशोर न्याय नियम, 2007 के नियम 11 (9) के अन्तर्गत किशोर अपराधियों को गिरफ्तार करना वर्जित है जब तक कि ऐसा करना न्यायिक हित में अनिवार्य न हो। पर हत्या, गम्भीर उपहति, बलात्कार आदि जैसे संगीन अपराध करने वाले बाल या किशोर अपराधियों की गिरफ्तारी की जा सकती है परन्तु उन्हें भी यथाशीघ्र मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये जिससे वह उनके विषय में उचित निर्णय ले सके तथा उनका प्रकरण किशोर न्याय बोर्ड को भेज दे। इस अधिनियम की धारा 12 के प्रावधानों से स्पष्ट है कि विधि-विरोधी किशोरों के प्रति उदारता दर्शाते हुए उन्हें यथासंभव जमानत पर रिहा किये जाने की व्यवस्था की गयी। इस धारा के अधीन किशोर व्यक्तियों को छोड़ दिए जाने की अनुशंसा की गयी है। जब तक कि इस बात की संभावना न हो कि जमानत पर छोड़े जाने से किशोर व्यक्ति घोर अपराधी की कुसंगति में पड़ सकता है या उसके लिये नैतिक खतरा उत्पन्न हो सकता है या न्याय का उद्देश्य विफल होने की संभावना है।

सुनील तथा अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य के वाद में सत्र न्यायालय ने किशोर अपराधी को जमानत की अर्जी इस आधार पर नामंजूर कर दी कि उसकी मेडिकल रिपोर्ट के आधार पर वह किशोर आयु पूर्ण कर चुका था।

परन्तु उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि आयु सिद्ध करने का दायित्व अभियुक्त का नहीं था और न्यायालय को स्वप्रेरणा से इसका निर्धारण करके सुनिश्चित करना चाहिये था कि अभियुक्त को किशोर-न्याय अधिनियम 1956 का लाभ देते हुए जमानत पर छोड़ा जा सकता है अथवा नहीं। आशय यह है कि सामान्यतः किशोर व्यक्ति को धारा 12 का लाभ देते हुए जमानत पर छोड़ा जाना चाहिए जब तक कि ऐसा न करने के लिए समुचित कारण न हो।

संदीप कुमार बनाम राज्य के वाद में किशोर को छह वर्षीय बालिका के साथ बलात्कार के अपराध के लिये दोषी पाया जाने के कारण उसकी जमानत नामंजूर कर दी गई। इससे यह स्पष्ट था कि किशोर आपराधिक प्रवृत्ति का था तथा उसको माता का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। **जैक अहमद शेख बनाम राज्य के वाद** में राजस्थान उच्च न्यायालय ने विनिश्चित किया कि धारा 12 में प्रयुक्त शब्द 'जमानत पर छोड़ा जायेगा' से यह अर्थ निकालना कि किशोर को जमानत पर छोड़ देने के सिवाय न्यायालय के पास कोई अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं है, गलत होगा। यदि अपराध का स्वरूप ऐसा है कि किशोर को जमानत पर छोड़े जाने से समाज को खतरा है, तो उसकी जमानत नामंजूर की जा सकती है। इस मामले में अभियुक्त किशोर उम्र का था लेकिन वह तस्करी के अवैध व्यापार में लिप्त था तथा तस्करों के गिरोह में सक्रिय होने के उसके विरुद्ध साक्ष्य थे। अतः धारा 12 के अधीन उसकी जमानत को नामंजूर किया जाना उचित माना गया।

किशोर के सम्बन्ध में पारित किए जाने वाले आदेश इस अधिनियम की धारा 15 इस संबंध में उल्लेख कर रही है। जहाँ किसी बोर्ड का जाँच करने पर यह समाधान किसी किशोर ने कोई अपराध किया है तब तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी प्रतिकूल बात के होते हुये भी, बोर्ड यदि ठीक समझता है तो किशोर के विरुद्ध समुचित जाँच करके और उसको सलाह देने और भर्त्सना करने के बाद तथा माता-पिता अथवा संरक्षक को परामर्श देकर किशोर को घर जाने की अनुमति दे सकता है। किसी अपराध के लिए आरोपित कोई किशोर जब किशोर-न्याय बोर्ड के समक्ष पेश किया जाता है, तो बोर्ड इस धारा के उपबंधों के अधीन जो आदेश पारित कर सकता है।

वह निम्नलिखित है—

किशोर को चेतावनी और सलाह देकर उसके माता-पिता या संरक्षक के साथ घर जाने दे यदि अपराध गम्भीर प्रकृति का न हो, किशोर न्याय बोर्ड विधि का उल्लंघन करने वाले को चेतावनी देकर छोड़ सकता है। इसी प्रकार के प्रावधान अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 की धारा 3 में भी है।

प्रश्न न0 9—परिवीक्षा का क्या अर्थ है? उन कारकों का वर्णन कीजिए। जिन्हें किसी व्यक्ति की परिवीक्षा पर छोड़ने के लिए चुनते समय विचार में लिया जाता है।

उत्तर— यह अधिनियम सुधारात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है जो पिछले कुछ वर्षों में निवारण सिद्धांत से आया है। यह देखा गया है कि रिहाई के बाद अपराधी का समाज में पुनः समायोजन कम हो जाता है। पेशेवर अपराधियों के साथ काम करते समय उन्हें समस्याओं का सामना भी करना पड़ सकता है। यह दोषी व्यक्ति और उसके बाद के जीवन पर अवांछित प्रभाव डालता है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 नाबालिग अपराधियों को नियमित अपराधी बनने से बचाता है। ऐसा उन्हें जेल जाने के बजाय खुद को सुधारने का मौका देकर किया जाता है। परिवीक्षा अधिकारी सौहार्दपूर्ण तरीके से आरोपी की जरूरतों और कठिनाइयों तक पहुंचता है और समस्या को हल करने का प्रयास करता है। यह छोटे अपराधों के लिए दोषी व्यक्ति के लिए किया जाता है। प्रोबेशन अधिकारी प्रोबेशन प्रबंधन की प्रक्रिया में मुख्य व्यक्ति होता है। वह प्रोबेशनर से सीधे संपर्क करता है। वह न्यायालय के प्रोबेशन आदेश के प्रावधानों को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार होता है। वह दो प्राथमिक कार्य करता है जिसमें प्रोबेशन अपराधी की वर्तमान जांच और अपराधी की निगरानी शामिल है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 का उद्देश्य अभियुक्त को उचित चेतावनी के बाद रिहा करना है यदि उसे मृत्यु या आजीवन कारावास से दंडनीय नहीं होने वाले किसी अपराध का दोषी नहीं पाया गया है। इसे अपराधियों को यह साबित करने का अवसर प्रदान करने के लिए अधिनियमित किया गया है कि वे अपने व्यवहार में सुधार कर सकते हैं और समाज में बिना किसी नुकसान के रह सकते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सुधार हमेशा कारगर नहीं होता। कई बार अपराध इतने जघन्य और घिनौने होते हैं और अपराधी इतने बेपरवाह होते हैं कि ऐसे अपराधों के लिए सजा देना जरूरी हो जाता है। कुछ मामलों में सुधार उपयोगी नहीं होता और समाज की सुरक्षा के लिए उन्हें आजीवन कारावास की सजा देना ही सबसे अच्छा होता है।

परिवीक्षा का उद्देश्य और लक्ष्य— परिवीक्षा का मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य कानून तोड़ने वालों को स्थायी रूप से सुधारना है। इसमें पुनर्वास और सुधार के माध्यम से आदतों को रचनात्मक तरीके से ढालना शामिल है। इसका उद्देश्य असामाजिक व्यक्ति को समाज के साथ स्वेच्छा से सहयोग करने का मौका देना है। इससे उसे सामाजिक सुरक्षा और संरक्षण भी मिलेगा। यह कारावास का विकल्प है। कारावास हमेशा अपराध को खत्म करने के उद्देश्य को पूरा नहीं करेगा। परिवीक्षा कानून का उद्देश्य अपराधी को दंडित करने से ज्यादा उसे सुधारना है। इसे हम आम तौर पर परिवीक्षा कहते हैं। सरल शब्दों में, इसे अच्छे व्यवहार के वादे पर अपराधी की सशर्त रिहाई के रूप में समझा जा सकता है। इस धारा का उद्देश्य युवा अपराधियों को सुधारना था, जो बुरी संगति या अज्ञानता के प्रभाव में अपराध कर सकते थे। इसका उद्देश्य उन्हें कठोर अपराधियों से बचाना और सुधारना है, जो उन्हें अपराध के रास्ते पर ले जा सकते हैं। यह धारा परिपक्व आयु के उन व्यक्तियों की भी सहायता करती है, जिन्होंने प्रभाव में आकर अपराध किया हो। उनसे देश के अच्छे नागरिक बनने की अपेक्षा की जाती है।

अधिनियम के तहत वैधानिक प्रावधान— इस प्रावधान को मोटे तौर पर प्रक्रियात्मक और मूल सामान्य कानूनों में वर्गीकृत किया गया है जो अपराधियों की परिवीक्षा से संबंधित हैं। परिवीक्षा से निपटने के लिए पहला प्रावधान दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 562 में था। 1973 में संशोधन के बाद, परिवीक्षा को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 360 में शामिल किया गया। इस धारा में कहा गया है कि यदि— कोई भी व्यक्ति जो इक्कीस वर्ष से कम आयु का न हो और किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो जिसके लिए सात वर्ष का कारावास है या किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो जिसके लिए जुर्माने से दंडनीय हो। या कोई व्यक्ति जो इक्कीस वर्ष से कम आयु का हो या कोई महिला हो जो किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी हो जो आजीवन कारावास या मृत्युदंड से दंडनीय नहीं है और अपराधी के विरुद्ध कोई पूर्व दोष सिद्ध नहीं हुआ हो। और न्यायालय के समक्ष उपस्थित होता है, चाहे उसने जिस भी परिस्थिति में अपराध किया हो, न्यायालय अच्छे आचरण के वादे पर अपराधी को रिहा कर सकता है। न्यायालय अपराधी को कारावास की सजा देने के बजाय अच्छे आचरण और शांति के लिए बांड भरने पर उसे रिहा कर सकता है। जुगल किशोर प्रसाद बनाम बिहार राज्य के इस मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि कानून का उद्देश्य किशोर अपराधियों को जेल में कारावास की सजा सुनाए जाने की स्थिति में अनुभवी वयस्क अपराधियों के साथ उनकी बातचीत के परिणामस्वरूप जिद्दी अपराधी बनने से रोकना है। यह देखा गया है कि यह अधिनियम दंडशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्ति के अनुरूप है, जो कहता है कि अपराधी को बदलने और उसे नया रूप देने के लिए प्रभाव डाला जाना चाहिए न कि न्याय का बदला लेने के लिए। आधुनिक आपराधिक न्यायशास्त्र यह मानता है कि कोई भी व्यक्ति अपराधी नहीं पैदा होता है। बहुत सारे अपराध सामाजिक-आर्थिक वातावरण का परिणाम होते हैं। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 360 के आवेदन को बाहर करता है, जब भी अधिनियम लागू होता है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 से धारा 12 अपराधियों की रिहाई से निपटने के लिए अदालत की प्रक्रियाओं से संबंधित है। प्रावधानों के महत्वपूर्ण पहलुओं पर पाँच तरीकों से चर्चा की गई है—

चेतावनी— अपराधियों की परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 न्यायालय की उस शक्ति से संबंधित है जिसके तहत वह अपराधी को चेतावनी के बाद रिहा कर सकता है। शाब्दिक अर्थ में चेतावनी का अर्थ है सख्त चेतावनी या फटकार। धारा 3 में बताया गया है कि निम्नलिखित शर्तों को पूरा करने के बाद चेतावनी के आधार पर अपराधी को किस तरह से लाभ पहुंचाया जाता है—

- (1) जब कोई व्यक्ति भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 379 या धारा 380 या धारा 381 या धारा 404 या धारा 420 के तहत अपराध करने का दोषी पाया जाता है या भारतीय दंड संहिता या किसी अन्य कानून के तहत दो साल से अधिक कारावास या जुर्माने या दोनों से दंडनीय कोई अपराध करता है।
- (2) किसी अपराधी को पहले उसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए।
- (3) न्यायालय अपराध की प्रकृति और अपराधी के चरित्र पर विचार करता है।
- (4) न्यायालय अपराधी को दण्ड देने के स्थान पर अधिनियम की धारा 4 के अंतर्गत अच्छे आचरण की परिवीक्षा पर रिहा कर सकता है।
- (5) न्यायालय अपराधी को सजा सुनाने के बजाय उसे उचित चेतावनी देकर रिहा कर सकता है।

केशव सीताराम साली बनाम महाराष्ट्र राज्य, एआईआर 1983 एससी 291 — इस मामले में, अपीलकर्ता पालधी रेलवे स्टेशन पर रेलवे का कर्मचारी था। उसने भुसावल के विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी (रेलवे) के समक्ष मामले में भीकन मुराद द्वारा किए गए चारकोल चोरी के अपराध को अंजाम देने में मदद की, जिस पर चारकोल चोरी का आरोप था। विद्वान मजिस्ट्रेट ने अपीलकर्ता को उस अपराध से बरी कर दिया, और राज्य सरकार ने विद्वान मजिस्ट्रेट द्वारा पारित बरी करने के फैसले के खिलाफ बॉम्बे उच्च न्यायालय के समक्ष अपील दायर की। उस पर 500 रुपये का जुर्माना लगाया गया और भुगतान न करने पर दो महीने के कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। चोरी का विषय कोयले की एक मात्रा थी जिसकी कीमत 250 रुपये थी। 8. सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि छोटी-मोटी चोरियों के मामले में उच्च न्यायालय को जुर्माना लगाने के बजाय अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 या धारा 4 या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 360 का लाभ देना चाहिए।

बसिकेसन बनाम उड़ीसा राज्य, एआईआर 1967 ओरी 4 — इस मामले में, एक 20 वर्षीय युवक को भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 380 के तहत अपराध का दोषी पाया गया। यह माना गया कि युवक ने जानबूझकर अपराध नहीं किया था और इसलिए मामले में परिवीक्षा अधिनियम की धारा 3 के तहत आवेदन किया जाना चाहिए और चेतावनी के बाद रिहा किया जाना चाहिए।

अहमद बनाम राजस्थान राज्य, एआईआर 1967 राज 190 — इस मामले में, अदालत ने कहा कि अपराधियों की परिवीक्षा अधिनियम का लाभ किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं मिलता है जो किसी ऐसी गतिविधि में लिप्त हो जिसके परिणामस्वरूप विस्फोटक स्थिति पैदा हुई और सांप्रदायिक तनाव पैदा हुआ।

अच्छे आचरण पर परिवीक्षा— अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 4 अच्छे आचरण के आधार पर अपराधी की रिहाई के बारे में बात करती है। यह अधिनियम की एक बहुत ही महत्वपूर्ण धारा है। इस धारा के आवेदन के लिए याद रखने योग्य महत्वपूर्ण बिंदु ये हैं—

- (1) यदि अपराधी को मृत्युदंड या आजीवन कारावास वाले अपराध का दोषी पाया जाता है तो अधिनियम की धारा 4 लागू नहीं होती।
 - (2) न्यायालय को अपराध की प्रकृति और अपराधी के चरित्र सहित मामले की परिस्थितियों पर विचार करना होता है।
 - (3) न्यायालय अपराधी को अच्छे आचरण की परिवीक्षा पर रिहा करने के लिए पर्यवेक्षण आदेश पारित कर सकता है। पर्यवेक्षण अवधि एक वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में परिवीक्षा अधिकारी को व्यक्ति की इतनी अवधि तक निगरानी करनी चाहिए। पर्यवेक्षण आदेश में परिवीक्षा अधिकारी का नाम सूचीबद्ध होना चाहिए।
 - (4) न्यायालय अपराधी को जमानतदारों के साथ या उनके बिना एक बांड निष्पादित करने का निर्देश दे सकता है, ताकि वह ऐसी अवधि के दौरान उपस्थित हो और सजा भुगत सके जो तीन वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।
 - (5) न्यायालय अच्छे आचरण के आधार पर अपराधी को रिहा कर सकता है।
 - (6) न्यायालय पर्यवेक्षण आदेश में उचित शर्तें रख सकता है और पर्यवेक्षण आदेश देने वाला न्यायालय अपराधी को आदेश की शर्तें समझा सकता है। ऐसा पर्यवेक्षण आदेश अपराधी को तुरंत दिया जाना चाहिए।
- इस नियम को लागू करने के लिए परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट अनिवार्य नहीं है, लेकिन यदि रिकॉर्ड पर सूचना की आवश्यकता है, तो न्यायालय अच्छे आचरण के लिए परिवीक्षा आदेश देने से पहले परिवीक्षा अधिकारी की सूचना को ध्यान में रखेगा।

प्रश्न नं० 10— निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

उत्तर— (1) अपचारी किशोर— 8 साल से कम उम्र के किसी भी किशोर को अगर वह कोई अपराध करता है, तो उसे किशोर अपराधी माना जाता है। कानूनी तौर पर, 8 साल से ज्यादा और 16 साल से कम उम्र के बच्चे का कोई कानून-विरोधी काम करना बाल अपराध माना जाता है। किशोर अपराधियों के लिए, जेल से अलग किशोर हिरासत की व्यवस्था होती है। किशोर हिरासत केंद्र, युवा अपराधियों के पुनर्वास में मदद के लिए आयु-उपयुक्त संसाधन मुहैया कराते हैं। किशोर अपराध के कुछ कारणरू गरीबी या सामाजिक-आर्थिक स्थिति, खराब स्कूल की तैयारी या प्रदर्शन, साथियों की अस्वीकृति, हिंसा या वित्तीय कठिनाई से सुरक्षा की इच्छा।

किशोर अपराध को रोकने के लिए, घर और स्कूल में उचित देख-रेख की जरूरत होती है। अभिभावकों और शिक्षकों की भूमिका बच्चों के स्वस्थ मानसिक विकास में अहम होती है। अपराधी का आरोप लगाकर उनमें सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सुधार के लिए गंभीरता से काम किया जाना चाहिए।

(2) पुनर्विलोकन—पुनर्विलोकन से सम्बंधित प्रावधान सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 114 एवं आदेश 47 के अंतर्गत मौजूद है। पुनर्विलोकन यानी दुबारा अवलोकन संहिता के अंतर्गत दी गयी एक व्यवस्था है जिसके अंतर्गत परिस्थिति विशेष में अदालत द्वारा पारित निर्णय एवं इसके तथ्यों की जांच की जाती है। लैटिन सिद्धांत 'फंक्टस ऑफिसियो' कानून की उचित प्रक्रिया का पालन करते हुए किसी भी अदालत द्वारा पारित निर्णय के संबंध में लागू होता है। सिद्धांत का अर्थ है कि यदि मामले में उचित और निष्पक्ष सुनवाई और परीक्षण के बाद फैसला सुनाया गया है तो मामला फिर से नहीं खोला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अदालत का अधिकार क्षेत्र एक बार समाप्त हो जाता है जब वह अपने कार्यों को पूरा कर लेता है जिसके लिए उसे नियुक्त किया गया था चुना गया था। निर्णय के पुनर्विलोकन को दाखिल करने का अधिकार फंक्शनस ऑफिसियो की लैटिन अवधारणा का अपवाद है। पुनर्विलोकन निम्नलिखित के खिलाफ दाखिल किया जा सकता है—

(1) किसी आदेश अथवा डिक्री के खिलाफ जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में अपील का प्रावधान हो, किन्तु अपील नहीं की गयी हो।

(2) किसी आदेश अथवा डिक्री के खिलाफ जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में अपील का प्रावधान नहीं हो।

(3) लघुवाद न्यायालय के निर्देश पर पारित विनिश्चय।

यह जानना जरूरी है कि पुनर्विलोकन सम्बंधित आवेदन केवल उसी अदालत में दाखिल किया जा सकता है जिस अदालत द्वारा अपेक्षित आदेश पारित किया गया हो।

किसी आदेश का पुनर्विलोकन निम्नलिखित आधार पर ही मंजूर किया जा सकता है—

(1) नए साक्ष्य और साक्ष्य के महत्वपूर्ण मामले की खोज, जो उचित परिश्रम के अभ्यास के बाद, आवेदक के ज्ञान में नहीं था या उसके द्वारा उस समय पेश नहीं किया जा सकता था जब डिक्री पारित की गई थी या आदेश दिया गया था।

(2) किसी भूल या गलती के कारण जो अभिलेख धरिर्कोर्ड के देखने मात्र से ही प्रकट होती है।

(3) किसी अन्य पर्याप्त कारण के लिए (जिसे ऊपर निर्दिष्ट अन्य कारणों के अनुरूप समझा जा सके)।

क्या पुनर्विलोकन अदालत की अन्तर्निहित शक्ति है अथवा यह कानून द्वारा प्रदत्त है? इस सम्बन्ध में विभिन्न उच्च न्यायालयों ने अपने अपने मत पारित किये हैं। कुछ उच्च न्यायालयों का मानना है कि पुनर्विलोकन अदालत की अन्तर्निहित शक्ति है।

घोर अन्याय को रोकने के लिए या गंभीर और स्पष्ट त्रुटियों को ठीक करने के लिए पूर्ण अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत प्रत्येक न्यायालय में पुनर्विलोकन की शक्ति निहित है। उच्च न्यायालय पूर्ण क्षेत्राधिकार का न्यायालय है और इसलिए अपने आदेश के पुनर्विलोकन करने की शक्ति रखता है। (टी. कृष्णप्पा बनाम एच. लिंगप्पा, AIR 1982 Karn. 58) किन्तु अन्य मत में यह कहा गया कि धारा 114 और आदेश 47 नियम 1 स्पष्ट रूप से सिविल न्यायालय को पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करते हैं। इसलिए अदालत इस शक्ति का प्रयोग केवल इन प्रावधानों के तहत कर सकती है।

यह धारा 114 के तहत ऐसा नहीं किया जा सकता है, भले ही पुनर्विलोकन आवेदन इस धारा के तहत होने का दावा करता हो। यह अच्छी तरह से तय है कि पुनर्विलोकन की शक्ति एक अंतर्निहित शक्ति नहीं है। इसे कानून द्वारा विशेष रूप से या आवश्यक निहितार्थ द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए। (कुमारन वैद्यर बनाम के.एस.

वेंकटेश्वरन, AIR 1992 Ker- 26)

(3) अपील एवं पुनरीक्षण में अन्तर—

(1) अपील या बदलाव का कानूनी अधिकार न्यायालय में हारने वाले व्यक्ति को अपील करने का अधिकार है, जो संविधान में लिखा है। दूसरी ओर, संशोधन न्यायालय पर निर्भर है। इसका मतलब है कि यह हो भी सकता है और नहीं भी।

(2) अदालत में सुनवाई किसी भी अन्य मामले की तरह अपील की सुनवाई अदालत में की जाती है, लेकिन पुनरीक्षण मामले की सुनवाई अदालत में नहीं की जाती है।

(3) न्यायालय का प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता के अनुसार, किसी अनुरोध पर उस न्यायालय द्वारा विचार किया जाता है जो उससे पहले वाले न्यायालय से बेहतर है। इसका मतलब यह है कि यह उच्च न्यायालय नहीं हो सकता। उच्च न्यायालय केवल कुछ परिवर्तन कर सकता है।

(4) अपील में न्यायालय किसी भी तरह से हस्तक्षेप कर सकता है, लेकिन पुनरीक्षण मामले में वह केवल इतना ही कर सकता है।

(5) अपील में चरणों की संख्या बनाम पुनरीक्षण में चरणों की संख्या अपील में, केवल एक चरण होता है, जो मामले की सुनवाई है। हालांकि, पुनरीक्षण में दो तरीके हैं एक प्रारंभिक और एक अंतिम।

(6) अपील तब होती है जब किसी निश्चित मामले पर अदालती मुकदमा चलता रहता है, जबकि पुनरीक्षण तब होता है जब अदालत यह जांचती है कि मामले के दौरान कानून का पालन किया गया था या नहीं।

- (7) अपील या पुनरीक्षण में किस तरह की परीक्षा शामिल होती है? अपील में कानून की बुनियादी बातों और तथ्यों पर गौर किया जाता है। दूसरी ओर, पुनरीक्षण में कानूनी कार्रवाइयों, अधिकार क्षेत्र और निर्णय पर पहुँचने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली प्रक्रिया पर गौर किया जाता है।
- (8) समय सीमा अपील में, किसी पक्ष के पास अपील दायर करने के लिए एक निश्चित समय होता है। यह समय निचली अदालत द्वारा अंतिम निर्णय दिए जाने के तुरंत बाद शुरू होता है। पुनरीक्षण में, कोई निर्धारित समय सीमा नहीं होती है। कोई पक्ष किसी भी समय इसके लिए अनुरोध कर सकता है, लेकिन यह समय सीमा उचित होनी चाहिए।
- (9) अपील के लिए आवेदन करना जरूरी है। अपील करने वाले व्यक्ति को अपील करनी होगी। हालाँकि, संशोधन के लिए आवेदन करना जरूरी नहीं है।